

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj )**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन-संस्कृत-ग्रन्थमाला

४३

श्रीमद्वैवर्तपण्डितसूर्यप्रणीत।

**नृसिंहचम्पूः**

‘प्रकाश’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः संस्कृतव्याख्याकारः भूमिकालेखकश्च—

डॉ० श्रीसूर्यकान्तशास्त्री, एम. ए., डी. लिट्.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थ—

संस्कृतपालीविभागाध्यक्षः

हिन्दीव्याख्याकारः—

साहित्याचार्यः श्रीराममूर्तित्रिपाठी, एम. ए.

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयाध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१



प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविज्ञान प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१६

पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

The Chowkhamba Vidya Bhawan

Chowk, Varanasi-1 ( India )

1959

## दो शब्द

चम्पू का लक्षण सर्वप्रथम दण्डी के काव्यादर्श ( १.३१ ) में इस प्रकार मिलता है :—

‘गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ।’

इसी को प्रकारान्तर से साहित्यदर्पण में यों लिया गया है :—

‘गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।’

इस परिभाषा में अतिव्याप्ति-दोष है; क्योंकि गद्य-पद्यमय होने के कारण नाटक भी इसमें आ जाता है। फलतः हेमचन्द्र ने चम्पू की परिभाषा इस प्रकार की है :—

‘गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा चम्पूः ।’

इसी का विकास करके बाद में चम्पू का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

‘गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता ।

उक्तिप्रत्युक्तिविष्कम्भशून्या चम्पूरुदाहृता ॥’

इन लक्षणों में चम्पू-काव्य को सीमित कर दिया गया है। अङ्क और उच्छ्वास किसी चम्पूविशेष के गुण हो सकते हैं, उन्हें सभी पर लागू करना

उचित नहीं। इसी प्रकार कथोपकथन का प्रयोग होने पर भी चम्पू की आत्मा अभुण्ण बनी रह सकती है। वस्तुतः चम्पू एक ऐसा काव्य है जिसमें जीवन के सरस भाव्यमय तत्वों को पद्य में और केवल वर्णनात्मक अर्थों को गद्य में निबद्ध किया जाता है। कवि अपने चित्रण में जब भावाविष्ट हो उठता है तब उसकी माया गद्य का परिधान छोड़कर छन्दोबद्ध हो जाती है। वस्तुतः चम्पू एक मगीत-समन्वित काव्य-कथा है।

चम्पू-काव्य यद्यपि मस्कृत-साहित्य में अनेक है, किन्तु उनका समुचित विकास कुछ कारणों से नहीं हो पाया। प्रमुख कारण तो इसका यही है कि लक्षण ग्रन्थों ने चम्पू काव्य का परिभाषा कुछ ऐसे टन में की जिससे चम्पू का विस्तृत क्षेत्र मकुचित-सा बन गया, जिसके कारण चम्पूकार अपनी मौलिकता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहे। किन्तु चम्पू काव्य का एक बहुत ही उत्तम रूप बन सकता है, क्योंकि उसमें कवि की यह स्वतन्त्रता है कि वह विवरणात्मक अर्थों को गद्य के क्लेश में रखकर अपने भावोद्बेग को स्वरमगत कर दे, और इस प्रकार गद्य के सूत्र में पद्य कुसुमों की मनोहर माला गुथ दे।

ज्ञात चम्पूओं में त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू सर्वप्रथम है। उसका समय ९१५ ई० के आस-पास है। दिगम्बर जैन गोमप्रभ मूर्ति का यशस्तिलक चम्पू ९५९ ई० के आस-पास है। ये दो दोनों चम्पू चम्पू-साहित्य में विशेष महत्त्व के हैं। इनके अनिरिक्त हरिचन्द्र का चावधर चम्पू, भोज के नाम पर रामायण चम्पू, अनन्तभट्ट का भारतचम्पू भी उल्लेख्य हैं। भागवत चम्पू नामक तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं — इनके कर्ता हैं चिदम्बर, रामभट्ट और राजनाथ।

नृसिंह चम्पू नामका भी चार रचनाएँ हैं। इनके कर्ता हैं केशव भट्ट,

नारायण, दैवज्ञ सूर्य और संकर्षण । इनके अतिरिक्त कुछ और चम्पू भी प्रकाशित हुए हैं जिनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

समरपुङ्गव दीक्षित : ( तीर्थ ) यात्रा-प्रबन्ध

तिरुमलाम्बा : वरदाम्बिकापरिणय

वेङ्कटाध्वरिन् : विश्वगुणादर्श

अन्नयार्य : तत्त्वगुणादर्श

कवितार्किकसिंह वेदान्ताचार्य : वेदान्ताचार्य-विजय

रामचन्द्र चिरञ्जीव भट्टाचार्य : विद्वन्मोदतरङ्गिणी

कृष्ण : मन्दारमरन्द

रघुनाथ दास : मुक्ता-चरित

जीव गोस्वामिन् : गोपालचम्पू

परमानन्ददास सेन : आनन्दवृन्दावन

इत्यादि

उपर्युक्त चम्पूकारों में दैवज्ञ सूर्य-विरचित नृसिंहचम्पू ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है । दैवज्ञ-सूर्य का काल अनिश्चित सा है । ए. एन. दास गुप्त और एस. के. दे के संस्कृत साहित्य के इतिहास ( पृ. ४३७ टि. ६ ) में सूर्य दैवज्ञ-विरचित कंसवध नामक नाटक का भी उल्लेख है । इन्होंने नृसिंहचम्पू के प्रथमोच्छ्वास के चतुर्थ श्लोक में अपने को ज्ञानराज का पुत्र बतलाया है । इससे अधिक इनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है ।

नृसिंहचम्पू का प्रस्तुत संस्करण इंडिया आफिस पुस्तकालय की एक हस्त-लिपि के फोटो पर आधृत है, जिसे हमने लाहौर में १९५५ में वहां से मंगाया

था। उम हस्तलिपि में मूल चम्पूमात्र था, जिसका समझना छात्रों के लिये दुःसाध्य था। फलतः उमकी संस्कृत टीका हमें स्वयं करना पड़ी, जो कि श्रीजगन्नाथकी के मसुल प्रस्तुत है। टीका की प्रामाणिकता के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। इसकी उपादेयता पाठकों की सहृदयता पर निर्भर है।

संभवतः इस सम्स्करण में और इस टीका में कुछ सुधियां रह गई हों। उनके लिये हम विद्वानों से क्षमा चाहते हैं।

नृस्य दैवज्ञ पण्डित एने तत्त्वज्ञानी वैष्णव ये। श्रीमद्भगवद्गीता पर इनकी परमार्थ प्रभा टीका प्रसिद्ध है; जिसमें जगह-जगह इन्होंने ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के मन्त्रों का सहारा लिया है और बहुत से स्थलों पर गीता का अपना अलग ही व्याख्यान किया है।

नृसिंहावतार में नर नारायण का सर्वोत्तम समन्वय हुआ था। दोनों कइमी समन्वित रूप को सूर्य दैवज्ञ ने अपने गद्य पद्य समन्वित चम्पू में प्रमाधित किया है।

अपने कुमारसंभव के संस्करण में हमने शिव पार्वती स्कन्द के समन्वित रूप की आराधना की है। प्रस्तुत चम्पू के ध्याप्यान द्वारा हमने नर नारायण के संबलित रूप की आराधना करके अपने जीवन को कृतकृत्य किया है।

जीवन की मंथ्या में शिव विष्णु का चर्चा करके हम अपने श्राव को कृतकृत्य कर रहे हैं।

कला हिन्दू विश्वविद्यालय

११-९-४९

}

सूर्यकान्त

## भूमिका

संसार में जब-जब पाप का बोलवाला होता है तब-तब उसके निरास के लिये भगवान् धराधाम पर आते और वस्तु मानव जाति का उद्धार करते हैं। भगवान् के इन अवतारों में नृसिंह अवतार का अपना निराला महत्त्व है—क्योंकि इस अवतार में भगवान् ने मानव का रूप धारण करके उसे नृमृणता की परा कोटि पर पहुँचा दिया था और इसके द्वारा मानव जाति के संमुख शालीन वीरता का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

नृसिंहावतार का वर्णन पुराणों में स्थान-स्थान पर आता है और हर वर्णन में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि अन्य वर्णनों में नहीं मिलती। इन वर्णनों के तुलनात्मक अध्ययन से नृसिंह एवं प्रह्लाद के आविर्भाव-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। फलतः नृसिंहावतार के वर्णनों का सिंहावलोकन उपाख्यान के मर्म को हृदयंगम करने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है।

ब्रह्मपुराण के २३ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है:—

वाराह एष कथितो नारसिंहस्ततो द्विजाः । यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हृतः ॥ ४३ ॥  
पुरा कृतशुगे नाम सुरारिर्बलदर्पितः । दैत्यानामादिपुरुषः चकार सुमहत्तपः ॥ ४४ ॥  
दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च । जपोपवासनिरतः तस्थौ मौनव्रतस्थितः ॥ ४५ ॥  
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि । प्रीतोऽभवत्ततस्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४६ ॥  
तंवै स्वयंभूर्भगवान् स्वयमागम्य भोद्विजाः । विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥ ४७ ॥  
आदित्यैर्वसुभिः सार्धं मरुद्भिर्दैवतैस्तथा । रुद्रैर्विश्वसह्यैश्च यक्षराक्षसकिन्नरैः ॥ ४८ ॥  
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैः सुरैस्तथा । ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मोवाच—

प्रीतोऽस्मि तव भक्त्याऽहं तपसाऽनेन सुव्रत । वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥ ५० ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । ऋषयो वाऽथ मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह ॥ ५१ ॥  
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृत्तो मया । न शस्त्रेण न वाऽस्त्रेण गिरिणा पादपेन वा ॥ ५२ ॥  
न शुष्केण न चार्द्धेण न चैवोर्ध्वं न चाप्यधः । पाणिप्रहारेणैकेन समृत्यबलवाहनम् ॥ ५३ ॥  
यो मां नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति । भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः ॥ ५४ ॥



सन्नि चान्तरिक्ष च आकाश चैव सर्वश । अह कोषदध वामश्च वरुणो वासवो यम ॥  
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्ष विपुस्थाधिप ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोवाच—एते दिव्या वरास्तान् मया दत्तास्तवाद्भुता ।

सर्वान्नामानिमास्तात् प्राप्स्यसि त्व न मशय ॥ ५६ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् जगामाशु पितामह । वैराज ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ५७ ॥  
ततो देवाश्च नागाश्च गचर्वा मुनयस्तथा । वरप्रदानं हृत्स्वैव पितामहमुपस्थिता ॥ ५८ ॥

देवा ऊचु —

वरेणानेन भगवन् वधिष्यति स नोऽमुर । तत्प्रसीदान् भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥  
भगवन् सर्वभूतानां स्वयभूरादिकृप्रभु । स्रष्टा च हव्यक्यानामव्यक्तप्रवृत्तिभुवंम् ॥ ६० ॥

व्यास उवाच—

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देव प्रजापति । प्रोवाच भगवान्वाक्यं सर्वदेवगणांस्तथा ॥ ६१ ॥

ब्रह्मोवाच—

अवश्यं विदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसां फलम् । तपमोऽस्ते च भगवान् न ध विष्णुं करिष्यति ॥

व्यास उवाच—

एतच्छ्रुत्वा सुरा सर्वे वाक्यं पङ्कजजमन ।

स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुरत वै मुदान्विता ॥ ६३ ॥

अथमात्रं वरे चादि सर्वा मोऽवापन्त प्रजा । हिरण्यकशिपुर्देवो वरदानेन दत्तिनः ॥ ६४ ॥  
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन्वे ससितव्रतान् । सत्यधर्मतान्द्रान्तान् तदा धर्षितवार्तनया ॥ ६५ ॥  
त्रिदिवस्याम्नया देवान् पराजित्य महात्म । त्रेलोक्यवशमानीय स्वर्गे वसन्ति सोऽमुर ॥ ६६ ॥  
यदा वरमदोनसो विचरन्द्धानवो मुवि । यक्षीयानकरोद्देहत्यानयशीर्षाश्च देवता ॥ ६७ ॥  
आदिस्था वसुव माध्या विदवै च मरुतस्तथा । शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्मुर्यहावळम् ॥ ६८ ॥  
देवब्रह्ममयं यक्ष ब्रह्मैव मन्त्रात्रनम् । भूतं मव्यं भविष्यं च प्रभु लोकनमस्कृतम् ॥  
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गता ॥ ६९ ॥

देवा ऊचु —

प्रायस्त्वं नोऽहं देवश हिरण्यकशिपोर्मयात् । त्वं हि न परमो देव त्वं हि न परमो गुरुः ॥  
त्वं हि न परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम । उन्मुक्त्यमन्त्रप्राप्तं शत्रुपक्षक्षयकरः ॥

अथाम दिविवशस्य शरणं त्वं भवस्त्वं न ॥ ७१ ॥

वामुदेव उवाच—

मयं त्वं ब्रह्मममरा अमयं धो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिव देवा प्रतिष्पत्यथ मा चिरम् ॥ ७२ ॥  
एषोऽहं मां देव वरदानेन दत्तिनम् । अवश्यममरन्दां दानवद्र निहमि तम् ॥ ७३ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । हिरण्यकशिपोः स्थानमाजगाम महाबलः ॥  
नरस्यार्द्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्द्धतनुं प्रभुः । नारसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ७५ ॥  
घनजीमूतसंकाशो घनजीमूतनिस्वनः । घनजीमूतदीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ॥ ७६ ॥  
दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा दृष्टशार्दूलविक्रमः । दृष्टदैत्यगणैर्गुप्तं हतवानेकपाणिना ॥ ७७ ॥

उद्धरण का सार यों है:—

कृतयुग में दैत्यकुलवतंस हिरण्यकशिपु ने सहस्रों वर्ष घोर तप करके ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे वर मांगा कि ऋषि-मुनि-देव, गन्धर्व, किन्नर आदि में से कोई भी उसे शाप न दे सके, और अस्त्र, शस्त्र, पर्वत, वृक्ष आदि किसी भी प्रहार से किसी भी ओर से, उसका वध न हो सके। जो व्यक्ति एक ही चपेट से ससैन्य एवं सवन्धु-वान्धव उसे मार सके वही उसकी मृत्यु का कारण बने। सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, वरुण आदि सभी देवता उसके आत्मसात् बन जायें और इस प्रकार त्रिलोकी में शिव के समान उसी की तूती बजती रहे। एवमस्तु कह कर ब्रह्मा अपने आस्पद की ओर चल पड़े और इधर देवता लोग उनके इस वरदान से व्रत हो उनकी सेवा में पहुँच कर फरयाद करने लगे कि आपका उक्त वर पाकर तो यह दैत्यराट् आपे से बाहर हो प्राणिजात पर अत्याचार की औंधी चला देगा। भगवन्! इसे वश में रखिये और इसके वध का उपाय सोचिये। उनके अनुनय-विनय पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा बोले—तप का फल तो दैत्यराट् को मिलकर ही रहेगा। किंतु जब मदोन्मत्त होकर वह अत्याचार की परा-क्रोधि पर जा पहुँचेगा तब विष्णु भगवान् नृसिंहावतार लेकर उसका संहार कर देंगे।

वर का मिलना था कि दैत्यराट् आपेको भूल चराचर पर अत्याचार को आग उगलने लगा और सब देवताओं को अपने वश में करके स्वर्ग का स्वामी बन बैठा। उसने उनकी यज्ञांश छीन कर स्वयं भोगना आरंभ कर दिया। इस बात ने देवताओं पर जले पर नमक छिड़कने का काम किया और वे कांदिशीक हो विष्णु की सेवा में पहुँचे। आर्तजनवर्ग की टेर को सुनकर विष्णु भगवान् पसीज गए और उन्होंने नृसिंह का अवतार धारण करके कंचनकान्त दैत्यराट् का संहार कर, संसार को विपत्सागर से उवारा।

प्रत्यक्षतः इस कथानक में प्रह्लाद का नाम कहीं नहीं आता। हिरण्यकशिपु के परिवार में भी उनका संकेत नहीं है। नृसिंहावतार का कारण इस कथानक के अनुसार जन-जनपद का त्रास है न कि प्रह्लाद की यातनाएँ, और यह बात नृसिंहोपाख्यान में ध्यान देने योग्य है।

स्कन्दपुराण के अवन्ती क्षेत्र—माहात्म्य नामक पांचवें खण्ड के ६६ वें अध्याय में नृसिंहवर्णन की लघुनामिका इस प्रकार है:—

मनहुंमार उवाच—

भूय शृणु परम्याम नीर्धानास्तुतम वरम् । तत्तीर्थं सर्वपापघ्नं नृमिहस्य महात्मन ॥१॥  
 यस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापं समुत्तरेत् । दैत्यराज-समाख्यात हिरण्यकशिपु-पुरा ॥२॥  
 तेनेय वसुधा सर्वा सप्राप्ता च दुर्गात्मना । दुष्टदैत्यवलीव्याप्ता भाराक्रान्ता मुखादिता ॥३॥  
 गौभूर्त्वाऽश्रुमुखा देवैर्बन्धाग्न शरणययौ । भारामान्ना धरा दृष्ट्वा ब्रह्मा लोवपितामह ॥४॥  
 उवाच इन्द्राया नाचा श्रम तस्या व्यथोहितुम् । श्रयतां भोऽवने पुण्ये भवत्या उपकारकम् ॥  
 वचो वदामि ते नथ्य देशकालोचिन तथा । पुराणेन तपशीर्षे दुष्पर सर्वदेहिनाम् ॥ ६ ॥  
 गायत्र्युरासना तेन कृता मुनियतात्मना । मया चास्य वरी दत्त-प्रीतियुक्तेन चेतसा ॥ ७ ॥  
 न दिवा न तथा रात्रौ नाप्नरिक्षे न भूतले । नातिशुष्केण चाद्रेण न चास्त्रशस्त्रघातनैः ॥८॥  
 न देवामुरगन्धर्वैर्न यक्षोरगकिन्नरैः । पिशाचैर्गुण्ठाकावैश्च राक्षसैर्न कदाचन ॥ ९ ॥  
 मानवैः पक्षिजानैश्च न मे मृत्युर्भवेदिनि । एषकरतलाघानैः सकुल बन्वाहनम् ॥ १० ॥  
 मारयिष्यति मावीर म मे मृत्युर्भविष्यति । तथेत्युक्त्वा प्रतिदृष्टात्मा तमह च तदावने ॥११॥  
 आगम चैव लोक एव दैत्यो घोरघामन- । बभूव सर्वलोकानां शारता चातुलविक्रम- ॥१२॥  
 तस्यैवाधिकृता लोका बभूवुर्विगतज्वरा । त्रैलोक्यं मुमुजे नित्य सर्वदैत्यजनेभ्यः ॥ १३ ॥  
 तस्मात्पूय वनं यात महाकाल महेशितुः । तत्र तीर्थं महच्छासीत् सर्वतीर्थं वरोत्तमम् ॥ १४ ॥  
 मगमेभ्यस्त्व दक्षिणे कर्कराजोत्तरे तथा । शिप्रातीरे शुभे देशे पूर्वं वैकुण्ठसन्निभम् ॥ १५ ॥  
 नृमिहास्य पर धाम तस्य तीर्थं प्रतिष्ठितम् । तत्र गत्वा मुरधेषाः स्नानदानादिवः क्रिया- ॥  
 कुरत सत्वर सर्वे पुनर्लोकानवाप्स्यथ । ते तस्य वचनं श्रुत्वा देवा इन्द्रपुरोगमा- ॥ १७ ॥  
 महाकात्वन प्राप्ता यत्र शिप्रा पयस्विनी । नृसिंहतीर्थोपकूले उषित्वा शास्वती-समाः ॥१८॥  
 स्नानदानादिक कृत्वा नृसिंहस्यार्चनं तथा । प्व कृत्वा विधानेन परा सिद्धिप्रीतो गताः ॥१९॥  
 नृसिंहस्य स्वरूपेण हतो दानवपुङ्गवः । समानप्ये तदा म्याम हरिणाऽमित्रयानिना ॥ २० ॥  
 करेणैकप्रहारेण हिरण्यकशिपुर्हतः । ततः मुरगणाः सर्वे स्वाधिकारान्मयुत्सदा ॥ २१ ॥

शिवपुत्र कुमार कासिकेय की अर्चना में रचे गये स्कन्दपुराण में पढ़ें कर नृमिह की कथा कुछ द्वितरा-सी गई है और वहाँ देव-गन्धर्व किन्नरों की ओर से स्वयं धरा ब्रह्मा जी से विश्व के प्राण की मिष्टा मांगती है । ब्रह्मा पृथ्वी को दैत्यराज की अनुग्रह तपस्या के विषय में बताते और उसके बदले में उसे दिये अपने वर की भी चर्चा करते हैं । साथ ही वे देव-वर्ग को मगमेस्वर से दक्षिण, कर्कराज से उत्तर, विष्णु नदी के तट पर वैकुण्ठ के समान प्रतिष्ठित 'नृमिहधाम' पर स्नानादि करने की सलाह भी देते हैं । उनका आदेश पाकर देव-गन्धर्व नृसिंहतीर्थ में जाकर विधिवत् स्नान ध्यानादि करके अपने को कृतकृत्य करते और अभिषिक्त फल की प्राप्ति करते हैं । उनकी तपश्चर्या से प्रमत्त हो मगमान् विष्णु ने नृमिहावनार धारण करके एक ही चपेट में हिरण्य-कशिपु का संहार कर दिया और इस प्रकार उसके प्रचण्ड नाड्य से विदर वः उद्वार दिया ।

स्कन्दपुराण के उपाख्यान में एवं पूर्वोद्धृत उपाख्यान में ध्यान देने योग्य सान्य यह है कि इन दोनों में दैत्यराट् अपनी मृत्यु ऐसे वीर से मांगता है जो कि एक ही चपेट में सकुलबलवाहन उसका विनाश कर दे। दोनों का भेद तो सुतरां स्पष्ट है ही। यहां देवताओं की ओर से पृथ्वी ब्रह्मा के पास पहुँचती है। उपाख्यान के संघटन में भी कुछ बढ़को-सी जोड़-तोड़ दीख पड़ती है। उदाहरण के लिये एक ही बात को ले लीजिये।

अभी नृसिंह ने धरा पर हिरण्यकशिपु का संहार भी नहीं किया कि उनके नाम पर तीर्थ पहले की स्थापित हो गया जहाँ जाकर कि देवगण स्नान-ध्यान करते और इष्ट फल की प्राप्ति करते हैं। इस एक ही उदाहरण से वर्तमान पुराणों के ढाँचे का लुचरपन प्रत्यक्ष हो जाता है।

वायुपुराण के द्वितीय भाग के छठे अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है:—

ऋषय ऊचुः—

दैत्यानां दानवानां च गन्धर्वोऽगरक्षसाम् । सर्वभूतपिशाचानां पशूनां पक्षिवीरूढान् ॥

उत्पत्तिं निधनं चैव विस्तरात् कथयस्व नः ॥ ४८ ॥

एवमुक्तस्तदा सून उवाच ऋषिसत्तमान् । दितेः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम् ॥ ४९ ॥

कश्यपस्यात्मजौ तौ वै सर्वेभ्यः पूर्वजौ स्मृतौ । सूर्येहन्त्यतिरात्रस्य कश्यपस्याश्वमेधिके ॥ ५० ॥

हिरण्यकशिपुर्नाम प्रथमं ऋत्विगासनम् । दित्या गर्भाद् विनिःसृत्य तत्रासीनोच्चसंसदि ॥

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृतः ॥ ५१ ॥

ऋषय ऊचुः—

हिरण्यकशिपोर्नाम जन्म चैव महात्मनः । प्रभावं चैव दैत्यस्य विस्तराद् ब्रूहि नः प्रभो ॥ ५२ ॥

सून उवाच—

कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्यो वै पुष्करे पुरा । ऋषिभिर्देवताभिश्च गन्धर्वैरुपशोभितः ॥ ५२ ॥

उन्मृष्टेनैव विधिना आख्यानादौ यथाविधि । आसनान्युपकृतानि काञ्चनानि तु पद्म वै ॥ ५३ ॥

कुशपूतानि त्रीण्यत्र कूत्र-<sup>(चैः?)</sup>फलकमेव च । मुख्यैर्विवृजश्च चत्वारस्तेषां तान्युपकल्पयेत् ॥

शुभं तत्रासनं यत्तु होतुरर्थे प्रकल्पितम् । हिरण्यं तथा दिव्यं त्रिव्यास्तरणसंस्तृतम् ॥ ५४ ॥

अन्तर्वत्नो दितिश्चैव पत्नीत्वं समुपागता । दशवर्षसहस्राणि गर्भस्तस्या अवर्तत ॥ ५५ ॥

स तु गर्भाद् विनिःसृत्य मातुर्वै उदरात्तदा । उपकृतं तत्रासनं यत्तु होतुरर्थे हिरण्यमयम् ॥

निपसाद् स गर्भोऽत्र तत्रासीनः शशंस च ॥ ५६ ॥

आख्यानपञ्चमान् वेदान् महर्षिः काश्यपो यथा ।

तं दृष्ट्वा मुनयस्तस्य नामाकुर्वन्तु तद्विधम् ॥ ५७ ॥

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन विश्रुतः ।

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य सिंहिका तस्य चानुजा । राहोः सा जननी देवी विप्रचित्तेः परिग्रहात् ॥

हिरण्यकशिपुर्देत्यश्वचार परम तप । शत वर्षसहस्राणां निराहारो ह्यश्विरा ॥ ६१ ॥  
त ब्रह्मा ह्यद्रयामाम दैत्य तुष्टो वरेण तु । सर्वाभारत्वं विभ्रेम्य सर्वभूतेभ्य एव च ॥

योगाद् देवान् विनिजित्य सर्वदेवत्वमास्थित ॥ ६२ ॥

दानवाश्चासुराश्चैव देवा ममा भवन्तु मे । मारुतैर्यन् महेदवयमेव मे दीयता वरः ॥ ६३ ॥

एवमुत्तोऽथ ब्रह्मा तु तस्मै इत्वा यमेष्टितम् ।

दत्त्वा तस्मै वरान् दिव्यान् तत्रैवान्तरधीयत ॥

हिरण्यकशिपुर्देत्य इत्येकेनां पुराणैः ॥ ६४ ॥

राजा हिरण्यकशिपुर्था यामाशा निषेवते । तस्यास्तस्या दिशो देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभि ॥ ६४ ॥

एवप्रभावो दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुर्दिवा । तस्यासीन्नरमिह म विष्णुमृत्यु पुरा किल ॥

नरोस्तु तन निर्भिन्नस्तन शुद्धा नया स्मृता ॥ ६६ ॥

हिरण्याक्षमुता पञ्च विक्रान्ता ममहाबला । उत्तुर शकुनिश्चैव कालनामस्तथैव च ॥ ६७ ॥

महानामश्च विक्रान्तो भूतसत्रापनस्तथा । हिरण्याक्षमुता ह्यते देवैरपि दुरासदा ॥ ६८ ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च वाडेय सगण स्मृत । शत तानि सहस्राणि निहतास्तारकामये ॥ ६९ ॥

हिरण्यकशिपो पुत्राश्चत्वारस्तु महाबला । प्रह्लाद पूर्वजस्तेषामनुष्ठादस्तथैव च ॥

सहादश्च हृदश्चैव हृदपुत्रान्निबोधत ॥ ७० ॥

आव और भाषा दोनों की दृष्टि से इस वर्णन के निकटतम पहुँचा हुआ दूसरा वर्णन हमें ब्रह्माण्डपुराण (द्वितीय) के पाँचवें अध्याय में इस प्रकार मिलता है —

सूत उवाच—

दिते पुत्रद्वय जज्ञे कन्या चैका महाबला । कश्यपपरयात्मजौ तौ तु सर्वेभ्य पूर्वजौ स्मृतौ ॥ ३॥

मौयेऽहन्त्यनिरात्रस्य कश्यपपरयाद्वमेधिका । हिरण्यकशिपुर्नाम प्रथित पृथगामनम् ॥ ४ ॥

दित्वा गर्भाद् विनिस्तृत्य तत्रामीन समन्तत ।

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृत ॥ ४ ॥

ऋषय ऊचुः—

हिरण्यकशिपोर्जन्म नाम चैव महात्मन । प्रभावो वै दैत्यस्य विस्तराद् बहु नि प्रमो ॥

सूत उवाच—

कश्यपपरयाद्वमेधोऽभूत् पुण्ये वै पुण्डरे तदा । ऋषिभिर्देवताभिश्च गन्धर्वैरप्यशोभितः ॥ ७ ॥

तन्मुद्देशे च विविना आन्यानादी यथाविधि । आमनान्युपकल्पानि सौवर्गानि तु पञ्च वै ॥

कुलस्पदापि प्रीप्यत्र कूर्चं पलकमेव च । सुगन्धर्विजस्तु चत्वारारणां तान्युपकल्पयन् ॥ ९ ॥

वत्स तत्रामन चैक होतुरर्थे हिरण्यमयम् । निधमाद स गर्भोऽत्र तत्रासीन शशस च ॥ १० ॥

अ ग्यानमातृपूज्येण महर्षि कश्यपो यथा । त इहा ऋषयस्तस्य नाम कुर्वन्ति वर्धितम् ॥

हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृत । हिरण्याक्षो नुजस्तस्य मिहिका तस्य चानुभा ।

राहो मा अननी देवी विप्रचित्ते परिग्रह । हिरण्यकशिपुर्देत्यश्वचार परम तप ॥ १३ ॥

शतं वर्षसहस्राणां निराहारो ह्यधःशिराः । वरयामास ब्रह्माणं तुष्टं दैत्यो वरेण तु ॥ १४ ॥  
 सर्वामरत्वमवधं सर्वभूतेभ्य एव हि । योगाद् देवान् विनिर्जित्य सर्वदेवत्वमास्थितः ॥ १५ ॥  
 कारयेऽहमिदं सर्वं बलवीर्यसमन्वितः । दानवास्त्वसुराश्चैव देवाश्च सद् चारणैः ॥ १६ ॥  
 भवन्तु वशगाः सर्वे भस्ममीपानुभोजनाः । आर्द्रशुष्कैरवध्यश्च दिवा रात्रौ तथैव च ॥

एवमुक्तस्तदा ब्रह्मानुजश्चे सांप्रतं वरम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाचः—

महानयं वरस्तात वृतो दितिमुत त्वया । एहीदानीं प्रतिज्ञानं भविष्यत्येवमेव तु ॥ १८ ॥  
 दत्त्वा चाभिमतं तस्मै तत्रैवान्तरधादथ । सोऽपि दैत्यस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजंगमम् ॥ १९ ॥  
 महिम्ना व्याप्य संतस्थे बहुभूतिरभिब्रजित् । स एव तपति व्योम्नि चन्द्रसूर्यत्वमास्थितः ॥  
 स एव वायुभूत्वा च बवौ जगति सर्वदा । स गोपालोऽविपालश्च कर्षकश्च स एव ह् ॥  
 स ज्ञाता सर्वलोकेषु मन्त्रव्याख्याकरस्तथा । नेता गोप्ता गोपयिता दीक्षितो याजकः स तु ॥  
 तस्य देवाः सुराः सर्वे तदासन् सोमपायिनः । एवंप्रभावो दैत्योऽसावतो भूयो निबोधत ॥  
 तस्मै सर्वे नमस्कारं कुर्वन्तीज्यः स एव च । हिरण्यकशिपोर्दैत्यैः श्लोको गीतः पुरा त्विह ॥  
 हिरण्यकशिपू राजा यां यामाशां निरैक्षत । तस्यै तस्यै तदा देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः ॥ २५ ॥  
 तस्यासीन्नरसिहस्तु मृत्युविंशुः पुरा किल । नरास्तु यस्माज्जन्मास्य नरमूर्तिश्च यत्प्रभुः ॥ २६ ॥  
 तस्मात् स नरसिंहो वै गीयते वेदवादिभिः । सागरस्य च वेलायामुच्छ्रितस्तपसो विभुः ॥  
 शरीरं तस्य देवस्य ह्यासीद्देवमयं प्रभो । नाग्ना सुदर्शनं चैव विधृतश्च महाबलः ॥ २८ ॥  
 ततः स बाहुयुदेन दैत्येन्द्रं तं महाबलम् । नखैर्भिदद संक्रुद्धो नार्द्राः शुष्का नखा इति ॥ २९ ॥

हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः सुमहाबलाः ।

प्रह्लादः पूर्वजन्तेषामनुहादस्तथापरः । सहादश्चैव हादश्च हादपुत्रौ निबोधत ॥

सुंदो निमुंदश्च तथा हादपुत्रौ बभूवतुः ॥ ३० ॥

ऊपर उद्धृत किये दोनों उपाख्यानोँ में न केवल भावसाम्य व्यक्त है अपितु भाषा एवं छन्द का साम्य भी ध्यान को पकड़ लेता है । कश्यप ऋषि अश्वमेध रचते और उसमें होता के लिये एक हिरण्मयासन बिछाते हैं । माता दिति के गर्भ में सैकड़ों वर्ष झाँकने वाला बालक माता के उदर से निकल इस आसन पर आ बैठा है और इस हिरण्मयासन पर बैठने के कारण ही उसका नाम 'हिरण्यकशिपु' पड़ जाता है ! इसके अनुज का नाम हिरण्याक्ष एवं बहिन का नाम सिंहिका रखा गया । आगे चलकर यहाँ सिंहिका राहु की जननी बनी ।

जन्मजात मनीषी हिरण्यकशिपु ने सैकड़ों वर्ष घोर तप किया और इस अमोघ तपश्चर्या के बल पर उसने ब्रह्मा से अवध्यत्व का वरदान पाया । वर में साफ तौर से मांग की गई थी कि सूखे या गीले किसी भी पदार्थ से उसकी क्षति न होने पावे । ब्रह्मा से दैत्य को वर मिल गया और वर की सफलता के साथ-साथ देवताओं से वैर की भावना भी उसमें बलवती होती गई । यहाँ तक कि कुछ ही काल में वह देवताओं का स्वामी बन

बैठा और सारे ही देवताओं में उस एक की ही प्रतिमा काम करती दीखने लगी। यह अब उसके हो गए और तपस्वरण की प्रक्रिया पर अब उसकी धाक बैठ गई। विश्व का सन्तर्ग्राहि ब्रह्म करने लगा। विष्णु का आसन छिड़ गया और उन्होंने नृसिंह का अवतार लेकर अपने नखों में दैत्यराज का काम तमाम कर दिया। नख इमी कारण पवित्र बन गए।

हिरण्यकशिपु के चार महावर्गी पुत्र हुए—प्रह्लाद, अनुह्लाद, सहाद और हार। हा के श्री महापराक्रमी पुत्र हुए सुह और निमुह।

पुराणों के संशोधन की दृष्टि से दोनों वर्णन अत्यन्त महत्व के हैं। इनके श्लोकों की तुलनामक विवेचना में व्यक्त हो जाता है कि किस तरह पर विवेकहीनता के साथ वर्तमान पुराणों का संकलन किया गया है। उदाहरण के लिये लीजिये हिरण्यकशिपु के पुत्रों की नामावलि को। दोनों पुराणों में यह नाम प्रसार नगण्य भेद के साथ आइ है, किंतु इन दोनों में मिलने वाला भेद पुराण-संशोधन की दृष्टि में बितने महत्व का है।

पाठदृष्टि से तुलना कीजिये वायुपुराण के ५० वें श्लोक की और ब्रह्माण्डपुराण के नवम श्लोक को जिसमें कुरुक्षेत्राधि सभवन कुसुमनाभि के स्थान पर है।

दोनों उपाख्यानों में प्रह्लाद का नाम ही आता है किंतु नृसिंह भगवान् उनके प्राण के लिये अवतार नहीं धारण करते, अपितु देवता-वर्गों के प्राणहरण के लिये पराधाम पर पधारत हैं।

कूर्मपुराण के १६ वें अंश में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है—

देवा ऊचु —

हिरण्यकशिपुर्नाम ब्रह्मणे वरदपित । बाधने भगवन्नेत्यो देवान्सर्वान् सहर्षिभि ॥  
अवध्य सर्वभूतानां स्वामृतं पुण्योत्तमम् । हन्तुमहंमि सर्वेषां प्राणांसि त्व जगन्मय ॥  
शुभा तद्वनैरक्तं म विष्णुर्विभावन् । कथय दैत्यमुत्तमं मा सुत-पुत्र स्वयम् ॥  
मेघवैनवर्मांग घोररूप मयानकम् । शङ्खचक्रगदापाणि न प्राह गच्छ-वत् ॥  
हत्वा त दैत्यराजं हिरण्यकशिपु पुन । इमं चैव समागतं शिबमहंमि वीर्यात् ॥  
मिशम्य वैश्व वाक्यं प्रमथ्य पुण्योत्तमम् । महापुत्रमव्यक्तं ययौ दैत्यमहापुत्रम् ॥  
विमुहन् भैरव नादं शङ्खचक्रगदाधर । आरुह्य गच्छ द्रवो महाभैरविवर ॥  
आकर्ष्य दैत्यप्रवरो महाभैरवोत्तमम् । मम च तस्मिन् नाद तथा दैत्यवत्सर्गम् ॥  
कश्चिदागच्छति महान् पुण्यो देवनोदितः । विमुहन् भैरव नादं न जानीमो जनार्दनम् ॥  
तत्र महापुत्रविरहितकशिपुः स्वयम् । मज्जते मायुने पुत्रं मयच्छादेस्तदा ययौ ॥  
दृष्ट्वा तं गच्छाच्छुभं मूर्धकोपिममप्रमम् ।

पुत्र पञ्चकार नारायणमिवापरम् । हन्तुं केचित्पुत्रोऽयमु सन्मान्त्रोचना ॥  
अयं स द्रवो भवान् गेता नारायणोऽपि । अस्माकमव्ययो नूनं तस्यो वा समागत ॥

इत्युक्त्वा शस्त्रवर्षाणि सत्तुजुः पुरुषाय ते । स तानि चाक्षतो देवो नाशयामास लीलया ॥  
हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः । पुत्रं नारायणोदभूतं युयुधुर्मेघनिःस्वनाः ॥

प्रह्लादश्चानुह्लादश्च संह्लादो ह्लाद एव च ॥

प्रह्लादः प्राहिणोद् ब्राह्ममनुह्लादोऽथ वैष्णवम् । संह्लादश्चापि कौमारमाग्नेयं ह्लाद एव च ॥  
नानि तं पुरुषं प्राप्य चत्वार्यस्त्राणि वैष्णवम् । न शेकुश्चालितुं विष्णुं वासुदेवं यथातथम् ॥  
अथासौ चतुरः पुत्रान् महाबाहुर्महाबलः । प्रगृह्य पादेषु करैश्चिक्षेप च ननाद च ॥  
विमुक्तेष्वथ पुत्रेषु हिरण्यकशिपुः स्वयम् । पादेन ताटयामास वेगेनोरसि तं वली ॥  
स तेन पीडितोऽत्यर्थं गरुडेन सहानुगः । अदृश्यः प्रययौ तूष्णं यत्र नारायणः प्रभुः ॥  
गत्वा विद्यापयामास प्रवृत्तमखिलं तदा । सञ्चिन्त्य मनसा देवः सर्वज्ञानमयोऽमलः ॥  
नरत्पार्द्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्द्धतनुं तथा । नृसिंहवपुरव्यक्तो हिरण्यकशिपोः पुरे ॥  
आविर्बभूव सहसा मोहयन्दैत्यदानवान् । दंष्ट्राकरालो योगात्मा युगान्तदहनोपमः ॥  
समारुह्यात्मनः शक्तिं सर्वसंहारकारिकाम् । भाति नारायणोऽनन्तो यथा मध्यंदिने रविः ॥  
दृष्ट्वा नृसिंहं पुरुषं प्रह्लादं ज्येष्ठपुत्रकम् । वधाय प्रेरयामास नरसिंहस्य सोऽसुरः ॥  
इमं नृसिंहं पुरुषं पूर्वस्मादूनशक्तिकम् । सहैव तेऽनुजैः सर्वैर्नाशयाशु मयेरितः ॥  
स तन्नियोगादसुरः प्रह्लादो विष्णुमव्ययम् । युयुधे सर्वयत्नेन नरसिहेन निर्जितः ॥  
ततः सम्मोहितो दैत्यो हिरण्याक्षस्तदनुजः । ध्यात्वा पशुपतेरस्त्रं ससर्ज च ननाद च ॥  
नस्य देवाधिदेवस्य विष्णोरमिततेजसः । न हानिमकरोदस्त्रं यथा देवस्य शूलिनः ॥  
दृष्ट्वा पराहतं त्वस्त्रं प्रह्लादो भाग्यगौरवात् । मेने सर्वात्मकं देवं वासुदेवं सनातनम् ॥  
सन्त्यज्य सर्वशस्त्राणि सत्त्वयुक्तेन चेतसा । ननाम शिरसा देवं योगिनां हृदयेश्वरम् ॥  
स्तुत्वा नारायणं स्तोत्रैः ऋग्यजुःसामसम्भवैः । निवार्य पितरं भ्रातृन् हिरण्याक्षं तदाब्रवीत् ॥  
अयं नारायणोऽनन्तः शाश्वतो भगवानजः । पुराणः पुरुषो देवो महायोगी जगन्मयः ॥  
अयं धाता विधाता च स्वयंज्योतिर्निरञ्जनः । प्रधानं पुरुषं तत्त्वं मूलप्रकृतिरव्यया ॥  
ईश्वरः सर्वभूतानामन्तर्यामी गुणातिगः । गच्छद्भ्वमेनं शरणं विष्णुमव्यक्तमव्ययम् ॥  
एवमुक्ते सुदुर्बुद्धिः हिरण्यकशिपुः स्वयम् । प्रोवाच पुत्रमत्यर्थं मोहितो विष्णुमायया ॥  
अयं सर्वात्मना बध्यो नृसिंहोऽल्पपराक्रमः । समागतोऽस्मद्भवनमिदानीं कालचोदितः ॥  
विहस्य पितरं पुत्रो वचः प्राह महामतिः । मा निन्दस्वैनमोशानं भूतानामेकमव्ययम् ॥  
कथं देवो महादेवः शाश्वतः कालवर्जितः । कालेन हन्यते विष्णुः कालात्मा कालरूपधृक् ॥  
ततः सुवर्णकशिपुर्दुरात्मा कालचोदितः । निवारितोऽपि पुत्रेण युयुधे हरिमव्ययम् ॥  
संरक्तनयनोऽनन्तो हिरण्यनयनाग्रजम् । नखैर्विदारयामास प्रह्लादस्यैव पश्यतः ॥  
हते हिरण्यकशिपो हिरण्याक्षो महाबलः । विसृज्य पुत्रं प्रह्लादं दुद्रुवे भयविह्वलः ॥  
अनुह्लादादयः पुत्रा अन्ये च शतशोऽसुराः । नृसिंहदेह-सम्भूतैः सिंहैर्नीता यमक्षयन् ॥  
ततः संहत्य तद्रूपं हरिर्नारायणः प्रभुः । त्वमेव परमं रूपं ययौ नारायणाव्ययम् ॥  
गते नारायणे दैत्यः प्रह्लादोऽसुरसत्तमः । अभिषेकेण युक्तेन हिरण्याक्षमयोजयत् ॥



म बाधयामास सुराग्रगे जित्वा मुनीनपि । लब्ध्वाऽन्धक महापुत्र तपसाराध्य शकरम् ॥  
 देवाञ्छ्वा मदेवेन्द्रान् शुष्ण्वा च धरणीमिमाम् । नीत्वा रसातल चक्रे वेदान्धै निष्प्रमास्तथा ॥  
 ततः सप्तदशका देवा परिम्लानमुग्रश्रिय । गत्वा विशापयामासुर्विष्णवे हरिमन्दिरम् ॥  
 स चिन्तयित्वा विश्वात्मा तद्बोधयामव्ययः । सर्वदेवमय शुभ्र वाराहश्च पुरा दधे ॥  
 गत्वा हिरण्यनयन इत्वा त पुरोत्तम । दग्धबोद्धारयामास कल्पादौ धरणीमिमाम् ॥  
 त्यक्त्वा वाराहसंस्थान संस्थाप्यैव सुरदिशः । स्वामेव प्रकृतिं दिव्या ययौ विष्णुः पर पदम् ॥  
 तस्मिन्दत्तेऽमरिषौ प्रह्लादो विष्णुनत्पर । अपालयत्स्वकं राज्यं भाव त्यक्त्वा नदामुत्तमम् ॥  
 यजते विषिर्देवान् विष्णोराराधने रतः । नि मयत्न सदा राज्यं नस्यासीद् विष्णुवैभवात् ॥  
 ततः कदाचिदमुरो ब्राह्मण गृहमागतम् । न च सम्भाषयामास देवानाञ्चैव भाषया ॥  
 स तेन तापसोऽत्यर्थं मोहितेनावमानितः । शशापासुरराजानं क्रोधमस्तलोचनम् ॥  
 यच्छद् बलं समाश्रित्य ब्राह्मणानवमन्यमे । सा शक्तिर्वैष्णवी दिव्या विनाश ने गमिष्यति ॥  
 श्युक्त्वा प्रययौ तूर्णं प्रह्लादस्य गृहाद् द्विजः । मुमोह राज्यमनक्तं मौडपि शापबलाक्षतम् ॥  
 बाधयायास विप्रेन्द्रात्र विवेद जनार्दनम् । पितुर्वधमनुस्मृत्य क्रोधं चक्रे हरिं प्रति ॥  
 नयौ समभवद् युद्धं सुधोर रोमहर्षणम् । नारायणस्य देवस्य प्रह्लादस्यामरद्विषम् ॥  
 कृत्वा स मुमहद् युद्धं विष्णुना तेन निर्जितम् । पूर्वमस्कारमाहात्म्यात् परस्मिन् पुरुषे हरी ॥  
 सञ्ज्ञानं नस्य विशान् शरण्यं शरणं ययौ ॥

ततः प्रभृति दैत्येन्द्रो ह्यनन्या भक्तिमुदहन् । नारायणे महायोगमवाप्त पुरोत्तमे ॥

हिरण्यकशिपु के भत्याचारों से उदेजित हो देवगण विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे और उन्होंने उनसे प्रार्थना की कि भगवन् ! दैत्यराट् के चक्रुल से जगती की रक्षा कीजिये ।

देवताओं के आर्त वचन को सुन कर भगवान् विष्णु ने मेरुपर्वतारार शङ्ख-चक्र गदाधारी महा भैरव की दैत्यराज के महार के लिये पठाया । यह महापुरुष दैत्यराज की पुरी में आया और हमने वहाँ के दैत्यपुत्रों की प्रचार । तुमसे युद्ध हुआ, किन्तु हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद आदि चारों पुत्र महापुरुष का बाल बाल नष्ट कर चुके, उन्हें, उसकी मार से कातर हो वे समराङ्ग से भाग खड़े हुए । इन पर दैत्यराज ने स्वयं महापुरुष से लोहा लिया और उसने उसके वश स्थल में हमी लात मारी कि वह रण में पराङ्मुख हो विष्णु भगवान् की शरण में भाग निकला । महापुरुष की पराजय को सुन कर विष्णु भगवान् स्वयं नृसिंह का रूप धारण करके राक्षसों से जूझने आए । उन्हें देव दैत्यराज ने अपने पुत्र प्रह्लाद को उनसे लोहा छेने के लिये पठाया । दोनों का [मुल हन्त हुआ ; प्रह्लाद मार गायकर भाग खड़ा हुआ । उसे मान हो गया कि उसका मित्र-दी मर्त्य नहीं अपि तु स्वयं विष्णु भगवान् हैं । वह उनकी स्तुति करने लगा और अपने करने दिना को भी शुद्ध से वरतन हो उनकी शरण में जाने को मन्त्राह दी ; किन्तु

दैत्यराज तो मद में चूर था ; बोला कि तुम सब कायर हो ; मैं अकेला इस नराधम को यमलोक पठाऊंगा । ऐसा कह कर भयंकर गजंजा करता हुआ वह नृसिंह पर चढ़ दौड़ा ; किंतु वात्या की चढ़ाई से पहाड़ का क्या विगड़ता ? नृसिंह ने एक ही चपेट में उसके वक्ष को चीर डाला और इस प्रकार उसके आतंक से धरती माता का उद्धार किया ।

हिरण्यकशिपु को इस प्रकार मरा देख उसका भाई हिरण्याक्ष भाग निकला और अंदर वहां केवल प्रह्लाद रह गया । कुछ काल पश्चात् प्रह्लाद ने अपने पितृव्य हिरण्याक्ष का राज्याभिषेक कर स्वयं विष्णु को आराधना आरंभ कर दी । सुख पाकर गर्वा कौन नहीं जाता ? हिरण्याक्ष ने शंकर के वरदान से अन्धक नाम का पुत्र पाकर देवताओं को सालना आरंभ कर दिया । देवता रो पड़े । उनकी डेर को सुन कर विष्णु भगवान् ने वराहावतार धारण कर उससे जगत् की रक्षा की । पितृव्य के दिवंगत हो जाने पर प्रह्लाद ने राज्य की बागडोर अपने हाथ संभाली । राजकाज का प्रपञ्च समझो अथवा स्वाभाविक वैभवमद ! राजा प्रह्लाद एक ब्राह्मण का निरादर कर बैठा । ब्राह्मण के मुंह से निकले शाप ने सांप बन कर प्रह्लाद को असंश बना दिया और अब वह भी प्रजा को सताने पर उतारू हो गया । विष्णु भगवान् से न रहा गया । वे आए और दोनों का रोमहर्षण द्वन्द्व हुआ । प्रह्लाद की हेठी हुई और तब वह फिर से भगवान् विष्णु का सच्चा आराधक बन गया ।

कूर्मपुराण का यह उपाख्यान रोचक तत्त्वों का पुट से खिल उठा है । इसमें शंख-चक्र-गदाधारी महापुरुष का दैत्यराज के साथ लड़ने के लिये आना और उसका संहार करने में उनकी अक्षमता नृसिंहावतार की गरिमा में चार चांद लगा देते हैं और इस बात से उनके ओज एवं शौर्य में अनोखा पूर आ जाता है । नृसिंह के हाथों प्रह्लाद की पराजय उसकी आन्तरिक दृष्टि को खोल देती है और उसे परम तत्त्व का अनायास ही भान हो जाता है । राजगद्दी पर बैठ कर प्रह्लाद भी ब्राह्मण का निरादर कर देता है—‘प्रभुता पाय काहि मद नाहीं’ तो इसे ही कहते हैं । भक्त की आंख खोलने भगवान् तुरंत आते और जब आसानी से वे उसे नहीं जगा पाते तब कर्कश प्रहारों से वे उसकी नींद को दूर करते हैं । उन्निद्र प्रह्लाद फिर से भगवान् की आराधना में लग जाता है ।

स्पष्ट है कि कूर्मपुराण का यह उपाख्यान पहले वर्णित उपाख्यानों से कहीं आगे निकल गया है ; क्योंकि जहां उनमें प्रह्लाद का नाम-संकेतन मात्र था वहां इस उपाख्यान में प्रह्लाद प्रतिनायक का भाग अदा करते हैं और वे अपने पिता के कहने पर विष्णु भगवान् से खुल कर लोहा लेते हैं । किंतु इस उपाख्यान में भी प्रह्लाद का पिता उसे यंत्रणा नहीं देता—यह सब तो वाद की बातें हैं—इनके उद्भावन में ही प्रस्तुत रचना की गरिमा सन्निहित है ।

मत्स्यपुराण में नृसिंहोपाख्यान का पाखें भर जाती हैं और वह अपने प्रपूर्ण कलेवर में सज कर हमारे संमुख आता है । मत्स्यपुराण के १६१ वें अध्याय में यह उपाख्यान इस प्रकार आरंभ होता है :—

ऋषय ऊचु —

इदानीं श्रोतुमिच्छामि हिरण्यकशिपोर्वंधम् । नरभिदस्य माहात्म्य तथा पारविताशनम् ॥

सून उवाच—

पुरा कृतयुगे विशा हिरण्यकशिपुः प्रभु । दैत्यानामादिपुम्पशकार म महत्तमः ॥ २ ॥  
दशवर्षसहस्राणि दत्तावपन्नानि च । जलदामी समभवत्सनानमोनधृत्तमनः ॥ ३ ॥  
नत श्रमदमप्या च भद्रचर्येण चैव हि । ब्रह्मा प्रीतोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४ ॥  
नत स्वयभूर्भगवान् स्वयमागम्य नत्र हि । विमानेनाकंर्षान् हंसयुक्तन भास्वता ॥ ५ ॥  
आदित्वैर्वसुभि मायेमंगद्विदेवतैस्तथा । ग्द्वैविश्वमहायैश्च यक्षराक्षसपन्नैः ॥ ६ ॥  
दिग्भिश्चैव विदिग्भिश्च नदीभि सागरैस्तथा । नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च वंशैश्च महाग्रहैः ॥ ७ ॥  
देवैर्ब्रह्मपिभि सार्यमिदं सप्तपिभिस्तथा । राजपिभि पुण्यदृष्टिर्गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ ८ ॥  
चराचरगुण धीमान् धृत सर्वैर्दिवौकसैः । ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्य वचनममवीत् ॥ ९ ॥  
प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसाऽनेन शुभत । वर वरय भद्र ते यथेष्ट काममाप्नुहि ॥ १० ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

न देवान्तरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । न मानुषाः निशाचा वा इत्युर्मा देवमत्तम ॥ ११ ॥  
ऋषयो वा न मा शपिः शपेषु प्रवितामह । यदि मे भगवान् प्रीतो वर ण्य वृत्तो मया ॥ १२ ॥  
न चाश्वेन न शस्त्रेण गिरिणा पादपेन च । न शुष्केण न चाद्रेण न दिवा न निशाज्यवा ॥  
भक्ष्यमहमेवावर्तः सोमो वायुर्दुर्नाशन । मल्लि चानरिक्ष च नक्षत्राणि दिशोदश ॥ १४ ॥  
अद् भोजश्च घामश्च वग्धो कामबो यमः । धनददश्च घनाध्यक्षो यश्च विपुष्पाधिप ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच—

एते दिव्या वरास्तत्र मया दत्तास्तवाद्भुताः ।

सर्वान्कामान्मदा वरस प्राप्तवसि त्व न मशय ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा स भगवाञ्जगानाकाश एव हि । वैराज मग्नमदनं मग्नपिणगमेवितम् ॥ १७ ॥

नतो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा ऋषिभि सह । वरप्रदान शुभेव वितामहमुपरिपन्ना ॥ १८ ॥

देवा ऊचु —

वरप्रदानाद् भगवन् बहिष्यति म नोऽमुरः ।

तत्प्रसीदानु भगवन् बधोऽप्यस्य विचिन्त्यतान् ॥ १९ ॥

भगवन्मर्त्यभूतानामादिकर्ता स्वय प्रभु । स्रष्टा त्व इत्यद्वयानामव्यक्तप्रकृतिर्बुधा ॥ २० ॥

सर्वलोचरित बाह्य शुभा देश प्रजापतिः । आशामयामाम सुरान् सुधातैर्वचनान्मुभिः ॥

अवदन विदशास्त्रेण प्राप्तञ्च तपसा फलन् । तपमोऽन्देऽस्य भगवान् वध विगुः करिष्यति ॥

तच्छ्रुत्वा विपुषा वाक्य सर्वे पशुजन्मनः ।

स्थानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदाविताः ॥

स्वर्गमात्रं वरे वाप सर्वाः सोऽराधय प्रजाः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दपित ॥ २४ ॥

आश्रमेषु महाभागान् स मुनीन्द्रंसितव्रतान् । सत्यधर्मपरान्दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥  
 देवास्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः । त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥  
 यदा वरमदोस्तिक्तश्चोदितः कालधर्मतः । यज्ञियानकरोदैत्वान् अयज्ञियाश्च देवताः ॥ २७ ॥  
 तदादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा । सेन्द्रा देवगणा यक्षाः सिद्धद्विजमहर्षयः ॥  
 शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्तुर्भवावलम् । देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

देवा ऊचुः—

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः । त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥ ३० ॥  
 त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः ।  
 त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥ ३१ ॥

विष्णुस्वाच—

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥ ३२ ॥  
 षोडशं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥ ३३ ॥  
 एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । वधं सकल्पयामास हिरण्यकशिपोः प्रभुः ॥  
 साहाय्यं च महाबाहुरोकारं गृह्य सत्वरम् । अथोक्त्वासहायस्तु भगवान् विष्णुरव्ययः ॥ ३५ ॥  
 हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः । तेजसा भास्कराकारः शशीकान्त्येव चापरः ॥ ३६ ॥  
 नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा । नरसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ३७ ॥

ततोऽपश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमाम् ।

सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् ॥ ३८ ॥

विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायताम् । वैहायसीं कामगमां पद्मयोजनविस्तृतान् ॥  
 जराशोकक्लमपेतां निष्प्रकर्म्पां शिवां सुखाम् । वेश्महर्मवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥  
 अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा । दिव्यरत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्दुतान् ॥ ४१ ॥  
 नीलपीतसितश्यामैः कृष्णैर्लोहितकैरपि । अवतानैस्तथा गुल्मैर्नजरीशतधारिभिः ॥ ४२ ॥  
 मिताभ्रघनसङ्काशा प्लवन्तीव व्यदृश्यत । रश्मिवती भास्वरा च दिव्यगन्धमनोरमा ॥ ४३ ॥

सुसुखा न च दुःखा सा न शीता न च वर्मदा ।

न क्षुत्पिपासे ग्लानि वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ॥ ४४ ॥

अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिन् च स्वयंप्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था मासयन्तीव भास्करम् ॥ ४५ ॥  
 सर्वे च कामाः प्रचुराः ये दिव्या ये च मानुषाः । रसयुक्तं प्रभूतं च भक्ष्यभोज्यमनन्तकम् ॥ ४६ ॥  
 पुष्पगन्धस्रजश्चात्र नित्यपुष्पफलद्रुमाः । तृष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति च ॥ ४७ ॥  
 पुष्पिताया महाशाखाः प्रवालाङ्कुरधारिणः । लतावितानसंछन्ना नदीषु च सरःसु च ॥ ४८ ॥  
 वृक्षान्बहुविधास्तत्र सृगेन्द्रो ददृशे प्रभुः । गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलानि च ॥ ४९ ॥  
 नातिशीतानि नोष्णानि तत्र तत्र सरांसि च । अपश्यत् सर्वतीर्थानि समायां तस्य स प्रभुः ॥  
 सुकान्तैर्धार्तराष्ट्रैश्च राजहंसैश्च सुप्रियैः । कारण्टवैश्चक्रवाकैः सारसैः कुररैरपि ॥ ५१ ॥

विमले स्थितिभेद पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः । बहुसोपगीतानि सारसामिरतानि च ॥ ५२ ॥  
 नानापुष्पानोपेता यराजन्त समन्ततः । चकोरा शनपथाश्च भक्तबोविलसारिका ॥ ५३ ॥  
 पुष्पिता पुष्पिताग्रैश्च सम्पतन्ति महाद्रुमाः । रत्नपीतारुणास्तत्र पादपात्रगता रगा ॥ ५४ ॥  
 परस्परमवेश्मन्ते प्रकृष्टा जीवजीवकाः । तस्या समाया दैत्येद्रो हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ५५ ॥  
 श्वोसहस्रे परिवृतो विचित्राभरणभारः । अनर्घ्यमणिवज्राचि शिखाज्वलितकुण्डल ॥ ५६ ॥  
 आसीनाश्चामने चित्र दशनस्त्रप्रमाणतः । दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसंस्तुते ॥ ५७ ॥  
 दिव्यगन्धवहस्तत्र मानस मुमुक्षो बवौ । हिरण्यकशिपुर्देत्य आरते ज्वलितकुण्डल ॥ ५८ ॥  
 उपवेश्मन्तद्वैत्य हिरण्यकशिपु तदा । दिव्यतानेन गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमा ॥ ५९ ॥  
 विश्वाचो सहजया च प्रमोचेत्यमिविश्रुताः । दिव्याऽथ मोरभेयी च समीची पुञ्जकरधरी ॥  
 निश्चक्रेषी च रम्भा च चित्रनेला गुबिरिमता ।

चारुकेशी घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥ ६१ ॥

यता महत्प्रशस्त्रान्या नृत्यगीतविहारदा । उपनिष्ठति राजान हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६२ ॥  
 नम्राऽऽसीन महाबाहु हिरण्यकशिपु प्रभुम् । उपामते दिते पुत्रा सर्वे लम्भवरास्तथा ॥ ६३ ॥  
 नमप्रतिमकर्माण शनशोऽथ सहस्रशः । बलिर्विरोचनस्तत्र नरवः पृथिवीमुख ॥ ६४ ॥  
 प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुर । सुरहन्ता सुनामा च प्रमति सुमतिर्वर ॥ ६५ ॥  
 घण्टदरो महापार्श्व क्रयन पिठरस्तथा । विश्वरूप सुरूपश्च स्वबलश्च महाबल ॥ ६६ ॥  
 दशग्रीवश्च बाली च मेघवासा महासुर । घातस्थोजग्यनश्चैव प्रजनक्षेत्रतापन ॥ ६७ ॥  
 दैत्यदानवसप्तारने सर्वे ज्वलितकुण्डलाः । सखिगणो वाग्मिनः सर्वे सर्वे चरितव्रता ॥ ६८ ॥  
 सर्वे लम्भवरा शूरा सर्वे विगतमृत्यवः । एते चाप्ये च बहवो हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६९ ॥  
 उपामन्ति महामान सर्वे दिव्यपरिच्छदाः । विमानविनिष्ठाकारैर्भ्राजमानैरिवाग्निभिः ॥ ७० ॥  
 महद्वपुषः सर्वे विनिष्ठाहदबाहवः । भूतिनाम्ना नित पुत्रास्तमुपासन्तः सर्वशः ॥ ७१ ॥  
 तरया समाया दिव्यायामसुरा पर्वतोपमाः । हिरण्यवपुषः सर्वे दिवाकरसमप्रभाः ॥ ७२ ॥  
 न ह्यननेव दृष्ट हि हिरण्यकशिपोर्वपाः । ऐश्वर्यं दैत्यमिहस्य यथा तस्य महात्मनः ॥ ७३ ॥

## अथ द्विपट्यधिकृततमोऽध्यायः

सूत उवाच—

गतो दृष्ट्वा महान्नान कालचक्रमिवात्मन् । नरमिहवपुदहन्न भस्मच्छत्रमिवानकम् ॥ १ ॥  
 हिरण्यकशिपो पुत्र प्रह्लादो नाम बौर्यवान् । दिव्येन चतुषा मिहमपश्यद्देवमागतम् ॥ २ ॥  
 त दृष्ट्वा स्वमरीचाममूर्खा तनुमागिन् । विभिन्ना दानवा सर्वे हिरण्यकशिपुदच स ॥ ३ ॥

प्रह्लाद उवाच—

महेशो महाराज दैत्यानामादिसमव । न श्रुत्वा च नो दृष्ट नारमिहमिदं वपुः ॥ ४ ॥  
 अव्यक्तप्रमदं दिव्यं मिमिदं रूपमागतम् । दैत्यान्करष घोरं कश्चरीन मनो मम ॥ ५ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितश्च याः । हिमवान्पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥  
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरादित्यैर्वसुभिः सह । धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रः शचीपतिः ॥ ७ ॥  
मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । नागा यक्षाः पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ ८ ॥  
ब्रह्मा देवः पशुपतिर्ललाटस्था भ्रमन्ति वै । स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥ ९ ॥  
भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्देत्यगणैर्वृतः । विमानशतसंकीर्णा तथैव भवतः समा ॥ १० ॥  
सर्वे त्रिभुवनं राजल्लोकधर्माश्च शाश्वताः । दृश्यन्ते नारसिंहेऽस्मिन् तथेदमखिलं जगत् ॥

प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा ग्रहाश्च योगाश्च महीरुहाश्च ।

उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ १२ ॥

सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाः ऋषयश्च सर्वे ।

क्रोधश्च कफायश्च तथैव हर्षो धर्मश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ १३ ॥

अष्टादस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः । उवाच दानवान्सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥  
मृगेन्द्रो गृह्यतामेष अपूर्वा तनुमाश्रितः । यदि संशयः कश्चिद् वध्यतां वनगोचरः ॥ १५ ॥  
ते दानवगणाः सर्वे मृगेन्द्रं भीमविक्रमम् । परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ १६ ॥  
सिंहनादं विमुच्याध नरसिंहो महाबलः । वभञ्ज तां समां दिव्यां व्यादितास्य इवान्तकः ॥

समायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् ।

विक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषाद् व्याकुललोचनः ॥ १८ ॥

सर्वास्त्राणामथ ज्येष्ठं दण्डमन्त्रं सुदारुणम् । कालचक्रं तथाऽञ्जोरं विष्णुचक्रं तथा परम् ॥ १९ ॥  
पैतामहं तथात्पुत्रं त्रैलोक्यदहनं महत् । विचित्रामशनिं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥ २० ॥  
रौद्रं तथोग्रं शूलं च कङ्कालं मुसलं तथा । मोहनं शोषणं चापि संतापनविलापनम् ॥ २१ ॥  
वायव्यं मथनं चैव कापालमथ कैकरम् । तथाऽप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ २२ ॥  
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमास्त्रं दक्षिणं तथा । कम्पनं शातनं चैव त्वाष्ट्रं चैव सुभैरवम् ॥ २३ ॥  
कालमुद्गरमश्लोभ्यं तपनं च महाबलम् । संवर्तनं मोहनं च तथा मायाधरं परम् ॥ २४ ॥  
ग्रान्धर्वमखं दयितमसिरत्नं च नन्दकम् । प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चाखमुत्तमम् ॥

अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याप्रतिहता गतिः ॥ २५ ॥

अखं ह्यशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च । नारायणाखमैन्द्रं च सार्षपमस्त्रं तथादभुतम् ॥ २६ ॥  
पैशाचमखमजितं शोषदं शामनं तथा । महाबलं भावनं च प्रस्थापनविकम्पने ॥ २७ ॥  
एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा । असृजन्नरसिंहस्य दीप्तस्याग्नेरिवाऽऽहुनिम् ॥  
अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः । विवस्वान् धर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः ॥  
स षमर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः । क्षणेन प्लावयामास मैनाकमिव सागरम् ॥

ते दानवाः पाशगृहीतहस्ताः महेन्द्रतुल्याशनिवज्रवेगाः ।

समन्ततोऽभ्युद्यतवाहुकायाः स्थितास्त्रिशिर्षा इव नागपाशाः ॥ ३१ ॥

सुवर्णमालाकुलभूषिताङ्गाः पीतांशुकामोगविभाविताङ्गाः ।

मुक्तावलीदामसनाथकक्षाः हंसा इवाऽऽभ्रान्ति विशालपक्षाः ॥ ३२ ॥

शिरस्त्रिभुजं ज्वलितं महाबलं महाशयूरी सुममावृतो बभौ ।

गिरिवंश सनवर्षिभिर्घनैः कृतान्वकारान्तरकन्दरो द्रुमैः ॥ ३३ ॥

तेह्यन्यमानोऽपि महास्रजालैर्महाबलैर्दैत्यगणैः समेतैः ।

नाऽकम्पनाऽऽजौ भगवान् प्रनापस्थित प्रकृत्या दिग्गवानिवाचलः ॥ ३४ ॥

सवासितास्तेन नर्मिहरूपिणा दिते मुखा पावकतुल्यनेत्रमा ।

मयादिचेतु पवनोदधुनाङ्गा यथोर्मयः सागरवारिसमवा ॥ ३५ ॥

## अथ त्रिपष्टयधिकशनतमोऽध्यायः

हिरण्यवशिपुर्देव्यो भूयः प्रासृजदूर्जितान् । शक्तिप्रज्वलिता घोराधीनशसनद्विप्रभाम् ॥ १ ॥

तामापतन्ती सप्रेक्ष्य मृगेन्द्र शक्तिमुज्ज्वलाम् । दृकारेणैव रौद्रेण बभञ्ज भगवांस्तदा ॥ २ ॥

रराञ्ज भग्ना सा शक्तिमृगेन्द्रेण महीतले । सविस्फुलिंया ज्वलिता महोत्केत्र दिवच्छतुना ॥ ३ ॥

नाराचपक्तिः मिहस्य प्राप्ता रेजेऽविदूरतः । नीलोत्पलपलाशाना मालेवोज्ज्वलदर्शना ॥ ४ ॥

स गर्जित्वा यथान्वाय विक्रम्य च यथासुखम् । तत्तमैर्यमुत्सारितवान् वृगाग्रणीव माग्नः ॥ ५ ॥

ततोऽश्मवर्षं दैत्येन्द्रा व्यसृजन् नमोगताः । नगमात्रे शिखरापदेर्गिरिशृङ्गेर्महाप्रभैः ॥ ६ ॥

तदाऽदमौघैर्दैत्यगणाः पुनः मिहमरिदमम् । छादयच्चक्रिरे नैषा धाराभिरिव पर्वतम् ॥ ७ ॥

न च स चालयामासुर्देव्यौघा देवमत्तमम् । भीमवेगोऽचलश्रेष्ठं समुद्र इव मन्दरम् ॥ ८ ॥

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षमनन्तरम् । धाराभिरक्षमाग्राभिः प्रादुरामीत्तमन्ततः ॥ ९ ॥

नमस प्रच्युता धारास्तिग्मवेगाः समन्ततः । आवृत्य सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ १० ॥

धारा दिवि च सर्वत्र वसुधाया च सर्वशः । न सृशन्ति च सा देव निपतन्त्योऽग्निश मुवि ॥ ११ ॥

बाह्यतो वक्ष्युर्वर्षं नोपरिहास्य वक्ष्युः । मृगेन्द्रप्रतिरूपस्य स्थितस्य शुचि मायया ॥ १२ ॥

इत्तेऽश्मवर्षे तुमुले जन्वर्षे च शोषिते । सोऽसृजद्वानवो मायामग्निबाहुसमीरितान् ॥ १३ ॥

महेन्द्रस्त्रोयदेः सार्धं सहस्राक्षो महाघृतिः । महता तोयवर्षेण समयामास पावकम् ॥ १४ ॥

तस्यां प्रतिहतायां तु मायाया शुचि दानवः । असृजद्विषोरसङ्काश तमस्तीव्र समन्ततः ॥ १५ ॥

तममा सृष्ट्वा लोके दैत्येष्वात्तापुष्पेषु च । स्वतेजसा परिवृतो दिवाकर इवाश्रमौ ॥ १६ ॥

त्रिशिखी घृकुटि चास्य दृष्टुर्दुर्लभा रणे । ललाटस्था त्रिशूलाङ्गा गता त्रिरयगाभिव ॥ १७ ॥

ततः सर्वास्तु मायास्तु हतास्तु दिविनन्दनाः । हिरण्यवशिपुर्देव्य विवर्णा शरण दयुः ॥ १८ ॥

ततः प्रज्वलितः क्षोधात् प्रदहन्निव तेजसा । तस्मिन्नुद्वेगे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूजगत् ॥ १९ ॥

आवहः प्रवहश्चैव विवहोऽप्यद्भुतावहः । परावहः संवहश्च महाबलपराक्रमाः ॥ २० ॥

तथा परिवहः धीमान् उत्थानभदशस्तिनः । इत्येव शुभिताः सप्त मरुतो गगनेचराः ॥ २१ ॥

ये महा सर्वनोक्तस्य क्षुब्धे प्रादुर्भवन्ति वै । ते सर्वे गगने दृष्टा व्यचरन्त यथासुगम् ॥ २२ ॥

अयोधतथाप्यचरन् मार्गं निशि निशाचरः । समहं स ह नश्वरै राकारनिरिन्दमः ॥ २३ ॥

विवांता च दिवि गतो भगवान् दिवाकरः । कृष्णः कर्णश्च च तथा लङ्घयते सुनहदिभिः ॥ २४ ॥

अमुधच्छायिषा बृन्द भूमिशुक्तिर्विभावसु । गगनस्थश्च भगवान् अभीक्ष्ण परिदृश्यते ॥ २५ ॥

सप्त धूत्रनिमा घोराः सूर्या दिवि समुत्थिताः । सोमस्य गगनस्थस्य ग्रहास्तिष्ठन्ति शृङ्गाः ॥  
 वामे तु दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रवृहस्पती । शनैश्चरो लोहिताङ्गो ज्वलनाङ्गसमद्युतिः ॥  
 समं समधिरोहन्तः सर्वे ते गगनेचराः । शृङ्गाणि शनकैर्वोरा युगान्तावर्तिनो ग्रहाः ॥  
 चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैर्ग्रहैः सह तमोनुदः । चराचरविनाशाय रोहिणीं नाभ्यनन्दत ॥  
 गृहीतो राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते । उल्काः प्रज्वलिताश्चन्द्रे विचरन्ति यथासुखम् ॥  
 देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् । अपतन्गगनादुल्का विद्युद्रूपा महास्वनाः ॥  
 अकाले च द्रुमाः सर्वे पुष्पन्ति च फलन्ति च । लनाश्च सफलाः सर्वाः ये चाहुदैत्यनाशनम् ॥  
 फलेः फलान्यजायन्त पुष्पैः पुष्पं तथैव च । उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति च रुदन्ति च ॥  
 विक्रोशन्ति च गन्धोराः धूमयन्ति ज्वलन्ति च । प्रतिमाः सर्वदेवानां वेदयन्ति महद्भयम् ॥  
 तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपरि वेश्मनः । माण्डागारायुधानारे निविष्टमभवन्मधु ॥  
 असुराणां विनाशाय सुराणां विजयाय च । दृश्यन्ते विविधोत्पाताः घोरा घोरनिदर्शनाः ॥  
 एते चान्ये च बहवो घोरोत्पाताः समुत्थिताः । दैत्येन्द्रस्य विनाशाय दृश्यन्ते कालनिर्मिताः ॥  
 मेदिन्यां कम्पमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना । महीधरा नागगणा निपेतुरमितौजसः ॥  
 विपज्ज्वालाकुलैर्वक्त्रैर्विमुञ्चन्तो हुताशनम् । चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पन्नगाः ॥  
 वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयो । एलामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् ॥  
 सहस्रशीर्षो नागो वै हेमतालध्वजः प्रभुः । शेषोऽनन्तो महाभागो दुष्प्रकम्प्यः प्रकम्पितः ॥  
 दीप्तान्यन्तर्जलस्थानि पृथिवीधरणानि च । तदा क्रुद्धेन महता कम्पिनानि समन्ततः ॥  
 नागास्तेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान्महीम् ॥  
 संदष्टौष्ठपुटः क्रोधाद् बराह इव पूर्वजः । नदी मागीरथी चैव सरयूः कौशिकी तथा ॥  
 यमुना त्वथ कावेरी कृष्णवेणा च निम्नगा । सुवेणा च महाभागा नदी गोदावरी तथा ॥  
 चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः । कमलप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥  
 नर्मदा शुभतोया च तथा वेङ्गवती नदी । गोमतो गोकुलाकोर्णा तथा पूर्वसरस्वती ॥  
 मही कालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी । जम्बूद्वीपं रत्नवरं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥  
 सुवर्णप्रकटं चैव सुवर्णकारमण्डितम् । महानदं च लौहित्यं शैलकाननशोभितम् ॥  
 पत्तनं कोशकरणमृषिवीरजनाकरम् । मागधाश्च महाग्रामाः मुण्डा शुङ्गास्तथैव च ॥  
 सुत्था मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोसलाः । भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणामिकम्पितम् ॥  
 कैलासशिखराकारं यत्कृतं विश्वकर्मणा । रक्ततोयो महामीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥  
 चन्द्रश्च महाशैल उच्छिद्यतः शतयोजनम् । सुवर्णवेदिकः श्रोमान् मेघपङ्क्तिनिषेवितः ॥  
 भ्राजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥  
 अयोमुखश्च विख्यातः पर्वतो धातुमण्डितः । तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥  
 सुराष्ट्राश्च सवाहीकाः शूराभोरास्तथैव च । भोजः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥  
 तथैवोण्डाश्च पौण्ड्राश्च वामचूडाः सकेरलाः । क्षोभितास्तेन दैत्येन सदेवाश्चाप्सरोगणाः ॥०३॥  
 अगत्यभवन् चैव यदगम्य कृतं पुरा । सिद्धचारणसंघश्च विप्रकीर्णं मनोहरम् ॥ ७४ ॥



विचित्रनानाविहग सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमयं नृगैरम्भोगानादितम् ॥ ७५ ॥  
गिरि पुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शन । उत्थित सागर मित्वा विश्रामश्चन्द्रमूर्त्ययो ॥  
रराज मुमहाश्चक्रेर्गगन विलिखन्निव ॥ ७६ ॥

चन्द्रसूर्यागुमकाशे सागराद्रुममावृते । विष्णुवान् सर्वत श्रीमान् आयत शनयोजनम् ॥  
विष्णुना यत्र सघाता निपात्यन्ते नगोत्तमे । ऋषभ पर्वतश्चैव श्रीमान् नृषभमशित ॥ ७७ ॥  
कुञ्जर पर्वतः श्रीमान् यत्रागस्त्यगृह शुभम् । विशालाशुश्च दुर्धर्षः सर्पागामान्य पुरी ॥ ७८ ॥  
तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रणामिकम्पिता । महामेनो गिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः ॥ ७९ ॥  
श्वक्रवाश्च गिरिशष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः । प्राग्ज्योतिषपुर चापि जातरूपमय शुभम् ॥ ८० ॥  
थरिमम् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः । मेघश्च पर्वतश्च मेघगम्भीरनिम्बन ॥ ८१ ॥  
षष्टित्व सहस्राणि पर्वतानां द्विजोत्तमा । तस्याष्टित्वसकाशो मेरुस्तत्र महागिरिः ॥ ८२ ॥  
यद्यराक्षमाण्यवैर्नित्य सेवितकन्दरः । ह्रमगर्भो महाशैलस्तथा हेमसरो गिरिः ॥ ८३ ॥  
वैष्णवश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पितः । इमपुष्करसदृशः तेन वैष्णवः सरः ॥ ८४ ॥  
कम्पित मानसश्चैव ह्रमवारण्डबाहुलम् । त्रिशङ्कपर्वतश्चैव कुमारी च सरिदरा ॥ ८५ ॥  
तुषारचयसदृशो मन्दरश्चापि पर्वतः । वशीरविन्दुश्च गिरिश्चन्द्रप्रस्थलधाद्रिराट् ॥ ८६ ॥  
मञ्जरुगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वतः । देवाभ्यपर्वतश्चैव तथा वै रणको गिरिः ॥ ८७ ॥  
क्रौञ्च सप्तविंशत्यश्च धूम्रवर्णश्च पर्वतः । एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा ॥ ८८ ॥  
नद्यः समारा मर्वा सोऽकम्पयत दानवः । कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्रवर्णश्च कम्पितः ॥ ८९ ॥  
खेचराश्च सतीपुत्रा पातालनलवासिनः । गणगन्धारी रौद्रा मेघनामाङ्कुशधरा ॥ ९० ॥  
छर्चङ्गी भीमवेगश्च सर्व एवभिकम्पिता । गन्धा शूलो कर्णश्चैव क्षिरण्यकक्षिपुस्तथा ॥ ९१ ॥  
जीमूतघनसकाशो जीमूतवननिस्वनः । जीमूतघननिर्घोषो जीमूतश्च वज्रबान् ॥ ९२ ॥  
देवारिदिनिको वीरो नृभिर्ह ममुनाद्रवत् । समुत्पत्त्य वनस्तीक्ष्णैश्च तद्रेण महानरः ॥

तदोकारसहायेन विदार्य निहतो मुनिः ॥ ९४ ॥

दैत्यराट् क्षिरण्यकक्षिणु सहस्रो वर्षं पर्यन्तं अध शिरा होकर उग्र तपस्या करता है और ब्रह्मा से कह हम बात का वर पाया है कि कोई भी जन ननु हमका संहार न कर सके और किसी भा अस्मद्वय से किसी भी समय हमकी धति न होने पावे वर मिल गया और हमके मिलने ही क्षीर्तिमत्त दैत्यराट् विश्व के सब देवी देवों में समा गया और चारों ओर उम्मीका प्रताप दमकने लगा । ज्वाला-मुनी की नाई अब उसके दारों से अत्याचारों की लावा निकलने लगी जिससे अस्त हो देव लोग ब्रह्मा की शरण में पहुँचे और बोले कि भगवन् ! हमे आममान में तो चढ़ाया है, अब हमके पतन का मार्ग भी तो दू दिये । ब्रह्मा ने कहा कि हमे अपने पारों की नैया भर देने दो । जब वह भर आयगी तब विष्णु हमका संहार कर देगे ।

दैत्यराट् के अत्याचार अब सीमा से बाहर हो गये-उमने सब देवों का यज्ञ-छीन लिया और उनके सारे ही नके बंद कर दिये । तब भगवान् विष्णु ओंकार की साथ से

उसकी सभा में पहुँचे। सभा क्या थी विश्व के वैभव की प्रदर्शनी थी। सारे ही नृत्य-वादा अशेष अप्सराओं के सारे ही विलासोल्लास, वासनाओं के उद्दीपन सारे ही उपसाधन वहाँ एकत्र थे। नृसिंह को देखते ही प्रह्लाद भांप गया कि वह कोई मर्त्य नहीं, स्वयं भगवान् हैं और वह उनका उसी क्षण से भक्त बन गया। किन्तु दैत्यराट् की तो पोरी-पोरी में गर्व खौल रहा था। वह आगे बढ़ा और उसने अपने सारे ही संहारक अस्त्र उन पर उल दिये। दानवों के वादल के वादल नृसिंह पर छा गये किन्तु सूर्य की प्रखर किरणें इन वादलों को पार कर गई और वे सब धरती पर आ गिरे। नृसिंह का द्रुम्ध अब दैत्यराट् से हुआ जिसमें अस्त्रों की मरमार से धरती-अंबर एक हो गए और अपने-पराए की संज्ञा जाती रही। पर दैत्यराट् आखिर मानव ही था। भगवान् के पंजों ने उसकी छाती विदीर्ण कर दी और वह यमलोक सिधार गया।

प्रस्तुत उपाख्यान ब्रह्मपुराणान्तर्गत नृसिंहोपाख्यान का परिवर्धित संस्करण प्रतीत होता है। श्लोकों में भारी समानता है। कुछ श्लोक तो जैसे के तैसे दोनों में उपलब्ध होते हैं।

विदग्धता एवं वर्णन की विशदता की दृष्टि से यह उपाख्यान अन्य उपाख्यानों से कहीं आगे बढ़ गया है और इसमें प्रह्लाद को ज्ञानलाभ के लिये न तो नृसिंह से ही लोहा लेना पड़ता और न और ही किसी प्रकार की श्रान्ति सहनी पड़ती है। निश्चय ही मत्स्यपुराण ने 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' इस उक्ति को भुलाकर अनायास ही भक्त को भगवान् के दर्शन करा दिये हैं और यह एक बात ही इस उपाख्यान की नवीनता को स्थापित करने के लिये पर्याप्त है।

दैत्यसभा का वर्णन अनूठा है किन्तु दैत्यसभा में इतने वनस्पतियों का क्या काम? सभा में तो ज्वन्द ही बेल-वृक्षों से सजावट का काम चल जाता है। फिर अन्य बहुत से प्रसाधनों को जुटाना (जैसे नदी आदि) जहाँ इस उपाख्यान के रचयिता को देशकालानभिज्ञता का चोटक है वहाँ वह उसकी रसहीनता का भी परिचायक है। युद्ध का वर्णन इस उपाख्यान का जितना ही व्यापक है उतना ही वह रोमांचभेदक भी है—किन्तु नृसिंह दैत्यराट् के तुमुल द्रुम्ध पर इससे गहरी धूप नहीं पड़ती और लावोद्गारी वह लोकालोक अनुद्भासित ही रह जाता है। दैत्यराट् के निवन का चित्र भी एकाएक हमारे संमुख आ जाता है। उसके आवश्यक प्रारूप हमारी आँखों से ओझल ही रह जाते हैं। निश्चय ही मत्स्यपुराण का उपाख्यान अपेक्षाकृत आधुनिक है और इससे प्रह्लाद के चरित्र में आवश्यक विकास का क्रम अनुद्भूत ही रह जाता है।

पद्मपुराण के पञ्चम खण्ड के ४२ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है :-

मोष्म उवाच—

इदानीं श्रोतुमिच्छामि हिरण्यकशिपोर्वधन् । नरसिंहस्य माहात्म्यं तथा पापविनाशनम् ॥१॥

पुत्रस्त्य उवाच—

पुरा कृतयुगे राजन् हिरण्यरशिषु प्रभुः । दैन्यानामादिपुरुषद्वयकार सुमहत्तयः ॥ २ ॥  
 दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । जलवामी समभवत् रनानमोनधृतमनः ॥ ३ ॥  
 वृत् । समदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि । ब्रह्मा भीनोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४ ॥  
 ततः स्वयभूमंगवान् स्वयमागत्य तत्र हि । विमानेनार्कवर्णेन ह्मयुक्तेन मास्वता ॥ ५ ॥  
 आदित्यैर्वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्देवैः सह । रद्वैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसपन्नगैः ॥ ६ ॥  
 दिग्विभागैर्विदिग्भिश्च नदीभिः सागरैस्तथा । नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च रात्रैश्च महामदैः ॥ ७ ॥  
 देवैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्षपैर्मिद्वैः सप्तर्षिभिस्तथा । राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वाप्सरसा गनैः ॥ ८ ॥  
 चराचरगुणः श्रोतान् वृत् । सर्वदिबौकसी । ब्रह्मा ब्रह्मविदा श्रेष्ठो दैत्य वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्रह्मोवाच—

भीनोऽस्मि तव भक्तस्य तपसाऽनेन सुमन । वर वरय भद्र ते यथेष्ट काममाप्नुहि ॥ १० ॥

हिरण्यरशिषुर्वाच—

न देवास्तुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मा देवमक्षतम् ॥ ११ ॥  
 ऋषयो मानवा क्षारैर्न शपेयुः पिनामह । यदि मे भगवान्भीनो वर एष वृत्तो मया ॥ १२ ॥  
 न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन वा । न शुष्केन न चार्द्धेण न स्याद्वाभ्येत मे वपः ॥ १३ ॥  
 भवेयमहमेवायं सोमो वायुर्नानुजः । सलिलं चान्नरिक्तं च नक्षत्राणि दिशो द्रव्य ॥ १४ ॥  
 अहं क्रोधश्च कामश्च वरगो वामवो यमः । धनदश्च धनाध्यक्षो दक्षः किमुन्याधिपः ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच—

एष दिव्यो वरस्ताव मया दत्तस्तवाद्भुतः । सर्वकामप्रदो वरम प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥

पुत्रस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा स भगवान् जगामाशुमेव हि । वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिणः सेवितम् ॥ १७ ॥  
 ततो देवाश्च गन्धर्वा ऋषिभिः सह चारणाः । वरप्रदानं श्रुत्वैवं रिशामहमुपरिताः ॥ १८ ॥

देवा ऊचुः—

वरप्रदानाद् भगवन् वरिष्यसि म नोऽमुरः । तत्प्रसादश्च भगवन् वधोऽस्य च विविन्त्यतान् ॥

पुत्रस्त्य उवाच—

भगवान् सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः । सृष्टा च हव्यकन्यानामन्यत्तप्रहृतिः परः ॥ २० ॥  
 सर्वलोकरिज वाक्पुत्रः कृत्वा देवः प्रजापतिः । वाशामयामास तदा शुशीर्तैर्वचनाम्भुभिः ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच—

अस्य विदहनेन प्रसव्यं नश्यः पृथक् । तस्मिन्नेत्यस्य भगवान्स्वयं विष्णुः करिष्यति ॥

पुलस्त्य उवाच—

तच्छृत्वा विबुधा वाक्यं पङ्कजजाननात् । स्वानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदान्विताः ॥  
 लब्धमात्रे वरे सोऽथ सर्वा अवाधत प्रजाः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन गर्वितः ॥ २४ ॥  
 आश्रमेषु महाभागान् मुनीन्वै संशितव्रतान् । सत्यधर्मपरान्दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥ २५ ॥  
 देवांस्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महात्तुरः । त्रैलोक्यं वशमानोऽयं स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥  
 तदा वरमदोत्सिक्तश्चोदितः कालधर्मिणा । यशियानकरोद्दैत्यान् अयशोयांश्च दैवतान् ॥ २७ ॥  
 यथादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा । रुद्रा देवगणा यक्षा देवद्विजमहर्षयः ॥ २८ ॥  
 शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् । देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

दैवा ऊचुः—

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः । त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥ ३० ॥  
 त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः । त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तमः ॥

विष्णुरुवाच—

भयं त्यजध्वममराः अमयं वो ददान्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥ ३२ ॥  
 एवं हि सगणं दैत्यं वरदानेन गर्वितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥ ३३ ॥

पुलस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् विश्वपो विष्णुरव्ययः । हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः ॥ ३४ ॥  
 तेजसा भास्कराकारः शशी कान्त्येव चापरः । नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥ ३५ ॥  
 नारसिंहेन वपुषा पाणी संगृह्य पाणिना । ततोऽवश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमान् ॥  
 सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् । विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायतन् ॥ ३७ ॥  
 वैहायसीं कामगमां पद्मयोजनमुच्छ्रितान् । जराशोकक्षमापेतां निष्प्रकम्पां शिवां सुखान् ॥  
 वैश्रमासनवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा । अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा ॥ ३९ ॥  
 दिव्यवर्णमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतान् । नीलपीतासितश्यामैः श्वेतैर्लौहितकैरपि ॥ ४० ॥  
 अवदातैस्तथा गुल्मै रक्तमञ्जरिधारिभिः । सिताभ्रधनसंकाशां प्लवन्तीं चाभ्यवृश्यत ॥ ४१ ॥  
 रदिममती स्वभावेन दिव्यगन्धमनोरमा । न सुखा न च दुःखा सा न शीता न च धर्मदा ॥

न क्षुत्पिपासे ग्लानिं वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ।

नानारूपैरुपकृतां सुचित्रैश्च शुभं ( सुमा ? ) स्वरैः ॥ ४३ ॥

अतिसूर्यं च चन्द्रं च शिखिनं च स्वयंप्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था भासयन्तो च भासुरा ॥  
 सर्वे चक्रासिरे तस्यां मुदिताश्चैव मानुषाः । रसवन्तः प्रभूताश्च भक्ष्यमोज्यान्नमुत्तमम् ॥  
 पुष्पगन्धाः त्वजश्चापि नित्यकालफलद्रुमाः । उष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति वै ॥  
 पुष्पिताग्रान्महाशाखान् प्रवालाङ्गुरधारिणः । लतावितानसंछन्नान् कल्पयामास स प्रभुः ॥  
 गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलाभि च । तानि शीतानि चोष्णानि तत्र तत्र सरांसि च ॥  
 अपश्यद् भूपतीर्धानि सभायां तस्य स प्रभुः । नलिनैः पुण्डरीकैश्च शतपत्रैः सुगन्धिभिः ॥

रक्ते कुवलयैश्चैव कलारैस्तत्पथेन । नानादचयंसमोपेनै । पुष्पैरन्यैश्च मुप्रियैः ॥ ५० ॥  
 कारण्डवैश्चक्रवाकैः सारमे कुररैरपि । विमलस्फटिकामानि पाण्डुरच्छदनेदिजैः ॥ ५१ ॥  
 बहुमोपगीतानि सारमाना गानानि च । गन्धवत्यो लतास्तत्र पुष्पमञ्जरिधारिणी ॥ ५२ ॥  
 दृष्टवान्भगवान्दृष्टः खदिरान्वेतमार्जुनाम् । चूना निम्बा नागवृक्षा कदम्बा बकुला धवाः ॥  
 चकोरा शतपत्राश्च मत्तकोरिलसारिका । पुष्पितान्पुष्पिताग्राश्च सपतन्नि महाद्रुमान् ॥  
 रक्तपीताम्बुगन्तव्य पादपाग्रगनाः रगाः । परस्परमवैष्णव प्रहृष्टा जीवजीवकाः ॥ ५५ ॥  
 तस्या समाया देवेन्द्रो हिरण्यकशिपुस्तदा । आमीन आम्ने चित्रे दशनस्त्वप्रमाणतः ॥ ५६ ॥  
 दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसस्तृते । हिरण्यकशिपुर्देव्यः आरते उज्ज्वलितकुण्डलः ॥ ५७ ॥  
 उपाचेरुर्महादेत्या हिरण्यकशिपु तदा । दिव्यतालानि गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमाः ॥ ५८ ॥  
 विश्वाची सहजन्त्या च प्रम्लोचेति च विश्रुता । दिव्याऽथ मोरभेयी च सर्माची पुञ्जिदस्थिता ॥  
 मिश्रकेली च रम्भा च चित्रमा क्षुतिविभ्रमा । चान्नेत्रा घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥  
 एताः सहस्रशतदान्या नृत्यगीतविशारदाः । उपातिष्ठन् राजान हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६१ ॥  
 उपामते दिने पुत्राः सर्वे लम्बवरास्तथा । बलिर्वैरोचनिरनन्य नरक पृथिवीसुतः ॥ ६२ ॥  
 प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविश्च महासुर । सुरहन्ता दुःखरुर्मा सुमनाः सुमनित्तथा ॥ ६३ ॥  
 घण्टोदरो महापाशर्वः क्रयनः पिठरस्तथा । विद्वरूपः सूरूपश्च विश्वनाथो महाबलः ॥ ६४ ॥  
 दशप्रोवश्च बाली च मेघवामा महासुरः । घटामो विटरूपश्च उज्ज्वलदेन्द्रतापनः ॥ ६५ ॥  
 दैत्यदानवमघारते सर्वे उज्ज्वलितकुण्डलाः । स्रग्विणो बर्माः सर्वे सर्वे च चरितव्रताः ॥ ६६ ॥  
 सर्वे लम्बवरा द्याः सर्वे विदितमृत्यव । एते चान्ये च बहवो हिरण्यकशिपु प्रभुम् ॥ ६७ ॥  
 उपामते महात्मान सर्वे दिव्यपरिच्छदाः । विमानैर्विविधाकरैर्भ्राजमानैरिवानिभिः ॥ ६८ ॥  
 महेन्द्रवपुषः सर्वे विनिघ्राहदबाहवः । भूषिताङ्गा दिने पुत्रास्तमुपामत सर्वतः ॥ ६९ ॥  
 [ तस्या समाया दिव्यायामसृग सर्वतोत्तमा । हिरण्यकशिपोः सर्वे दिवाकरममप्रभाः ॥  
 न ह्यन नैव नो दृष्ट हिरण्यकशिपोर्यथा ॥ ७० ॥ ]

देववर्गं दैत्यमिहस्य यथा तस्य महात्मनः । न ह्यन नैव दृष्ट च कस्यापि सुवनप्रये ॥ ७१ ॥

रजनजनकचित्तवेदिकायां परिक्रान्तविचित्रवीथिकायाम् ।

त ददर्श मृगायिनः समाया मुञ्चिरजालगवायुशोभिनयाम् ॥ ७२ ॥

कनकवन्द्यहारभूषिताङ्गा दिनितनयं स मृगायिषो ददर्श ।

दिवमकरकरप्रभ उज्ज्वल दिनिमहस्रशरीर्निषेव्यमाणम् ॥ ७३ ॥

ततो दृष्ट्वा महामाग कालचक्रमिवगतम् । नारमिह वपुःप्रन्न भरमच्छन्नमिवानलम् ॥

हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादो नाम वीर्यवान् । दिव्येन वपुसा मिहमपश्यदेवमाणनम् ॥

त दृष्ट्वा स्नमशोभामागपूर्वा तनुमाश्रितम् । विरिजता दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥

प्रह्लाद उवाच—

महाराज महाबाहो देवानामादिमन्त्रवः । न ह्यन नैव मे दृष्ट नारमिहान्नि वपुः ॥ ७४ ॥

अप्यर्त्तं परम दिव्य चिमिद रुन्माणम् । दैत्यान्करण घोर क्षमशील मनो मय ॥ ७५ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितस्तथा । हिमवान्पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥  
 चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरात्र आदित्या रश्मिभिः सह । धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रश्चीपतिः ॥  
 मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । नागा यक्षा पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥  
 ब्रह्मा देवाः पशुपतिललाटस्था भ्रमन्ति हि । स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥८२॥  
 भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्दैत्यगणैर्बृतः । विमानशतसङ्कीर्णा सर्वा वा भवतः सभा ॥८३॥  
 सर्वं त्रिमुत्रनं राज्ञेहोक्तधर्मश्च शाश्वतः । दृश्यते नरसिंहेऽस्मिन्स्तथेदं निखिलं जगत् ॥८४॥  
 प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा भ्रात्रश्च योगाश्च मही नभश्च ।  
 उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ ८५ ॥  
 सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाः ऋषयश्च सर्वे ।  
 क्रोधश्च कामश्च तथैव हर्षो दर्पश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ ८६ ॥

पुलस्त्य उवाच—

प्रहादस्य वचः धृत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः । उवाच दानवान्सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

नृगेन्द्रो गृह्यनामेष अपूर्वा तनुमास्थितः । यदि वा संशयः कश्चिद् बध्यतां वनगोचरः ॥

पुलस्त्य उवाच—

ते दानवगणाः सर्वे नृगेन्द्रं भीमविक्रमम् । परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ ८९ ॥  
 सिंहनादं विमुच्याथ नरसिंहो महाबलः । बभञ्ज तां सभां सर्वा व्यादितास्य श्वान्तकः ॥९०॥  
 सभायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् । निक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषव्याकुललोचनः ॥  
 सर्वास्त्राणामथ श्रेष्ठं दण्डमस्त्रं सुदारुणम् । कालचक्रं तथा घोरं विष्णुचक्रं तथापरम् ॥ ९२ ॥  
 पैतामहं तथात्युग्रं त्रैलोक्यनिमित्तं महत् । विचित्रामशनिं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥९३॥  
 रौद्रं तथोग्रशूलं च हुंकारं मुशलं तथा । अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च ॥ ९४ ॥  
 नारायणास्त्रमैन्द्रं च आग्नेयं शैशिरं तथा । वायव्यं मन्थनं चैव कपालमथ किंकरम् ॥९५॥  
 तथाऽप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ।

[ अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमास्त्रं शैशिरं तथा ॥ ९६ ॥ ]

मोहनं शोषणं चैव सन्तापनविलापनम् । कम्पनं शातनं चैव महास्त्रं चैव रोयनम् ॥९७॥  
 कालमुद्गरमक्षोभ्यं तापनं च महाबलम् । संवर्तनं मोहनं च तथा नायाधरं वरम् ॥ ९८ ॥  
 गान्धर्वमस्त्रं दयितम् असिरस्त्रं च नन्दकम् । प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चास्त्रमुत्तमम् ॥९९॥  
 अस्त्रं पाशुपतं चैव वस्याऽप्रतिहता नतिः । एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा ॥  
 अञ्जन्नरसिंहस्य दीप्तस्यान्नेरिवाहुतिम् । अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः ॥  
 विषत्त्वान्धर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः । स ह्यनर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः ॥१००॥  
 क्षणेनाप्लावयत्सर्वं मैनाक्रमिव सागरः । प्रासैः पाशैश्च खड्गैश्च गदाभिर्मुत्सलैस्तथा ॥१०१॥

वज्रेरशनिभिदचैव बहुशास्त्रैर्ह्यदुमेः । मुदशरे वृष्टपाशैश्च शिलोत्पलपर्वतैः ॥

शुनघ्नीभिश्च क्षीप्ताभिर्दण्डैरपि मुदारणैः ॥ १०४ ॥

सोऽसृजद्दानवो मायामग्निं वायुमभीरितम् । तमिन्द्रस्तोषदै सार्धं सहस्रांशो महायुधि ॥  
महता तोयवर्षेण शमयामास पावकम् । तस्यां प्रतिहतायां तु मानायां युधि दानवम् ॥ १०५ ॥  
असृजद् घोरसकाशं तमस्तीव्रममन्तनम् । तममा सवृते लोके दैत्येष्वामायायुधेषु च ॥ १०७ ॥  
स्वनेनसा परिवृतो दिवाकर इवोद्गतः । त्रिशिखां मृदुगीं चारुम ददृमुदार्तवा रणे ॥ १०८ ॥  
ललाटस्थां त्रिकूलस्थां गंगां त्रिपथगामिव । ततः सर्वांस्तु मायास्तु हतास्तु दिदिनिन्दना ॥ १०९ ॥  
हिरण्यकशिपुं दैत्या विषण्णां शरणं ययुः । ततः प्रवृत्तिं त्र्यम्बकं त्र्यम्बकं तेजसा ॥ ११० ॥  
तस्मिन्नुदे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूजजगत् । आवह प्रवहदचैव विवहोऽथ समीरणम् ॥ १११ ॥  
परावहः सवहश्च उदहश्च महावहः । तथा परिवहः श्रीमानुत्पानमयश्च सतिनः ॥ ११२ ॥  
इत्येव क्षुभिताः सप्त मरतो गगनेचराः । ये ग्रहाः सर्वलोकेषु क्षये प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ११३ ॥  
ते सर्वे गगने दृष्टा व्यचरन्त्य यथामुखम् । अयोगतश्चाप्यचरन्त्य योगं निशि निशाचरम् ॥  
सप्तग्रहः सह नक्षत्रैस्तारापनिरिन्द्रम् । विषण्णां च भगवान् गतो दिवि दिवाकरः ॥ ११४ ॥  
कृष्णः कवचश्च तदा दृश्यते सुमहान्दिवि । असृजद्घासिता मूर्ध्ना धूमवनि विभावहः ॥ ११५ ॥  
गगनस्थश्च भगवानभीष्टं परिविष्यते । सप्तधूमनिमा घोराः सूर्या दिवि ससुतिभ्यः ॥ ११६ ॥  
सौमस्य गगनरक्षस्य ग्रहास्त्रिगुणं मृदुगाः । वामे च दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रबृहस्पती ॥  
शनैश्चरो लौहिताक्षो लौहिताक्षमनयुधि । समसमभिरोदन्त्य सर्वे वै गगनेचराः ॥ ११७ ॥  
मृदुगाणि शुक्रवैष्णवा गुगान्तावर्तनमहा । चन्द्रमाश्च मनश्चो ग्रहैः सह तमोनुदः ॥ ११८ ॥  
चराचरविनाशाय रोहिणीं नाम्न्यनन्दतः । गृहीतो राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहृतः ॥ ११९ ॥  
उल्काः प्रकलित्वाश्चन्द्रे व्यचरन्त्य यथामुखम् । देवानामभिरो देवः सोऽप्यवर्षन् शोऽन्तम् ॥  
अपन्द गगनादुल्का विषुद्रा महास्वना । भवाले च द्रुमाः सर्वे पुण्ड्रानि च पण्ड्रानि च ॥  
उत्ताश्च सत्त्वाः सर्वा वा आदुर्दैत्यनाशिकाः । एते पण्ड्रान्यजावन्त्य पुत्रे पुत्रस्तैव च ॥  
उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति प्रवृत्तिं च । निमीलन्ति च गंभीरं धूमवन्ते उदन्ति च ॥  
प्रतिमाः सर्वदेवानां कथयन्त्यो महद्भयम् । आरण्यैः सह सगृहा आग्याश्च गृहदग्निम् ॥  
सुदुर्मेव त्वं मृदुबुद्धः उपस्थिते । नयश्च प्रतिकृत्तानि वदन्ति वस्तुतोदरे ॥ १२० ॥  
न प्रकृदन्ति च दिशो रत्नरेणुमनाङ्गुली । वातरत्ना न पूज्यन्ते पूज्यतांश्च कथयन् ॥  
वायुर्वेगं हृदये भवन्त्ये प्रवृत्तिं च । तथा च सर्वभूतानां हृदया न परिवर्तन्ते ॥ १२१ ॥  
अदरेण गते सूर्ये स लोकानां सुख्ये । तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपविशन्मनः ॥ १२२ ॥  
मागडागारे लुकागारे निशितमभय-जघुः । अमुतां विनाशाय मुग्धां विजयाय च ॥ १२३ ॥  
ब्रह्मणे विविशोऽपि घोरा मोरनिदर्शनाः । एते चान्ये च बहवो घोरस्याः ससुतिभ्यः ॥  
देवेन्द्रस्य विनाशाय ब्रह्मणे रणजनिनः । देदिन्यां वम्पमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना ॥  
महीधरा नागना नापेक्षुरनिश्रीयम् । विषमात्तुल्यैर्बभूवैर्मुदन्तो द्रुताशनम् ॥ १२४ ॥

चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पत्रगाः । वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ १४७ ॥  
 एलामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् । सहस्रशीर्षः शुद्धाङ्गो हेमतालध्वजः प्रभुः ॥ १४८ ॥  
 शोषोऽनन्तो महानागो ह्यप्रकम्पश्च कम्पितः । दीप्यन्तेऽन्तर्जलस्थानि पृथिवीविवराणि वै ॥  
 सप्त दैत्येन्द्रकोपेन कम्पितानि समन्ततः । नानातेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः ॥ १५० ॥  
 पाताले सहसा क्षुब्धे दुष्प्रकम्प्याः प्रकम्पिताः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान्महीम् ॥  
 सन्दष्टौष्ठपुटः क्रुद्धो वराह इव पूर्वजः । गङ्गा भागीरथी चैव कौशिकी सरयूरपि ॥ १५२ ॥  
 यमुना नाथ कावेरी कृष्णा वेणा च निम्नगा । तुङ्गभद्रा महावेगा नदी गोदावरी तथा ॥  
 चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः । मेलकप्रभवश्चैव शोणो मणिनिमोदकः ॥ १५४ ॥  
 नर्मदा च शुभस्रोतास्तथा वेन्नवती नदी । गोमती गोकुलाकीर्णा तथा पूर्वा सरस्वती ॥ १५५ ॥  
 महाकालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी । जम्बूद्वीपं रत्नवन्तं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥  
 सुवर्णपुटकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् । महानदश्च लौहित्यः शैलः काञ्चनशोभितः ॥ १५७ ॥  
 पत्तनं कोषकाराणां कुर्शि च रजताकरम् (?) । मगधाश्च महाग्रामाः पुण्ड्रा उग्रास्तथैव तु ॥  
 सुह्मा मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोशलाः । भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणापि कम्पितम् ॥  
 कैलासशिखराकारं यत्कृतं विश्वकर्मणा । रत्नतोयो महाभीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥  
 उदयश्च महाशैलः उच्छ्रितः शतयोजनः । सुवर्णवेदिकः श्रीमान् मेघपङ्क्तिनिषेवितः ॥  
 आजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥ १५२ ॥  
 अयोमुखश्च विख्यातः सर्वतो धातुमण्डितः । तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥  
 सुराष्ट्रश्च सवाहीकाः शूद्राभीरास्तथैव च । भोजाः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥  
 तथैव पौण्ड्राः शुभ्राश्च वामचूटाः सकेरलाः । क्षोभितास्तेन दैत्येन देवाश्चाप्सरसां गणाः ॥  
 अगस्त्यभवनं चैव यदगस्त्यकृतं पुरा । सिद्धचारणसंघैश्च विप्रकीर्णं मनोहरम् ॥ १५६ ॥  
 विचित्रनानाविद्गं सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमयैः शृङ्गैरप्सरोगणसेवितम् ॥ १५७ ॥  
 गिरिः पुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शनः । उत्थितः सागरं भित्त्वा विश्रामश्चन्द्रसूर्ययोः ॥  
 रराज स महाशृङ्गैर्गगनं विलिखन्निव । चन्द्रसूर्याशुसङ्काशैः सागराम्बुसमावृतैः ॥ १५९ ॥  
 विद्युद्भासो यतः श्रीमान् आयतः शतयोजनः । विद्युतां यत्र संपाता निपात्यन्ते नगोत्तमे ॥  
 ऋपभः पर्वतश्चैव श्रीमानृपभसंस्थितः । कुञ्जरः पर्वतः श्रीमानगस्त्यस्य गृहं शुभम् ॥ १६१ ॥  
 विमलाख्या च दुर्धर्पा सर्पाणां मालती पुरी । तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रेणामिकम्पिता ॥  
 महासेनगिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः । चक्रवांश्च गिरिश्रेष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः ॥ १६३ ॥  
 प्राग्व्योतिषपुरं चापि जातरूपमयं शुभम् । यस्मिन्नुवास दृष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥  
 मेघश्च पर्वतश्रेष्ठो मेघगम्भीरनिस्वनः । पष्टिस्तत्र सहस्राणि पर्वतानां विशापते ॥ १६५ ॥  
 तरुणादित्यसङ्काशो मेरुश्चैव महागिरिः । यक्षराक्षसगन्धर्वैर्नित्यं सेवितकन्दरः ॥ १६६ ॥  
 हेमगर्भो महासेनस्तथा मेघसखो गिरिः । कैलासश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पितः ॥ १६७ ॥  
 हेमपुष्परसच्छन्नं तेन वैखानसं सरः । कम्पितं मानसं चैव हंसकारण्डवाकुलम् ॥ १६८ ॥



त्रिशङ्कः पर्वतश्रेष्ठः कुमारी च सरिद्ररा । तुषारचयमन्दश्रो मन्दरश्चापि पर्वतः ॥ १६९ ॥  
 उशीरबीजश्च गिरिर्भद्रप्रस्थस्तथाद्रिद्राद् । प्रजापतिगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वतः ॥ १७० ॥  
 देवाम् पर्वतश्चैव तथा वै बालुकागिरिः । कौञ्चः सप्तपिण्डैश्च घृष्ववर्णश्च पर्वतः ॥ १७१ ॥  
 एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा । नद्यः सप्तागराः सर्वाः सोऽक्षपयन दानवः ॥  
 कविलद्वय महीपुत्रो व्याघ्रवांश्च प्रवम्बिनः । खेचराश्च निशापुत्रा पातालतलवामिनः ॥  
 गगन्मथापरो रौद्रो मेघनामाऽङ्कुशायुधः । ऊर्ध्वगो मीमवेगश्च सर्वं एतेऽभिवम्बिता ॥  
 गङ्गा शूलो करालश्च हिरण्यकशिपुस्तथा । जीमूतघननिषीपो जीमूत इव वेगवान् ॥ १७४ ॥  
 देवारिद्रिनिजो ह्यसौ नृमिह समुपाद्रवत् । स तु तेन नृपस्त्रीक्ष्णैर्गुणैर्द्वेण महानसौ ॥  
 तदौकारमहायेन विदार्य निहतो युधि ॥ १७६ ॥

मही च कालश्च शरी नमश्च ग्रहा समूयाश्च शिष्टश्च सर्वाः ।

नमश्च शैलश्च महार्जवाश्च गता प्रमादं दिनिपुत्रनाशनात् ॥ १७७ ॥

ततः प्रमुदिता देवा ऋषयश्च तपोधना । तुष्टुवृतामभिदिष्वैरादिदैव सनातनम् ॥ १८८ ॥

देवा ऊचुः—

सर्वथा विभूत देव नारमिहमिदं वपुः । एतदेवार्चयिष्यन्ति परावरविदो जनाः ॥ १८९ ॥

महोवाच—

अबान्त्रक्षा च रद्रश्च महेंद्रो देवमत्तमः । भवान्कर्ता विकर्ता च लोकाणां प्रभवोऽन्ययः ॥

परां च मिद्धि च परं च सर्वं परं रदस्य परमं हविश्च ।

परं च धर्मं परमं यशश्च त्वामाहुरग्र्यं परमं पुराणम् ॥ १९० ॥

परं च सत्यं परमं तपश्च परं पवित्रं परमं च मार्गम् ।

परं च यज्ञं परमं च होत्रं त्वामाहुरग्र्यं परमं पुराणम् ॥ १९१ ॥

परं शरीरं परमं च ज्ञानं परं च योगं परमां च वाणीम् ।

परं रहस्यं परमां गतिं च त्वामाहुरग्र्यं परमं पुराणम् ॥ १९२ ॥

पुत्रस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् सर्वलोकपितामहः । स्तुत्वा नारायणं देवं ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ॥

ततो नदत्त तुर्येण नृपन्तीध्वम्बरं पुत्रं च । क्षीरोदस्योत्तरं कूलं अगम्य हरिरीदवरः ॥ १९३ ॥

नारमिह वपुर्देवं स्थापयित्वा मुनीभिर्नाम् । पौराण्यं रूपमास्त्राय प्रययौ गच्छन्ध्वजः ॥ १९४ ॥

अष्टचक्रैः यानेन भूतिपुत्रेण भास्वता । अन्धकश्चट्टिर्देवं स्वस्थानं गतवान् प्रभुः ॥ १९५ ॥

पञ्चपुराणे पञ्चमखण्डे त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्याये—

भीष्म उवाच—

अनीकदमुदमेतद्धि नारमिह(स्व)भूतिना । माहात्म्यं त्वन्मुपाद् ब्रह्मन् शुभं परममद्भुतम् ॥

यस्य हिरण्यकशिपु उवाच प्रभुरीदवरः । यद्वयमिहिवि देवानां हृदयानि विद्वन्मन्त्रं ॥ २ ॥

यद्भयाद् वाति वातोऽपि मन्दं मन्दरयो रविः । नाति प्रतापं कुरुते प्रजासंयमनो यमः ॥३॥  
यत्प्रजाभ्यो विभ्यतीव तथेन्द्रो वरुणोऽपि च । तदाज्ञायां स्थिता(सेन्द्रा)देवाश्चात्यन्तपीडिताः ॥  
भवन्ति लोकत्रितयं यद्वशे निखिलं स्थितम् । एवं विधोऽपि यो दैत्यो हिरण्यकशिपुर्महान् ॥

विदारितो नखाग्रैश्च नारसिंहेन विष्णुना ।

नारसिंहस्य माहात्म्यं विस्तरेण त्वयेरितम् । समासाद् भव माहात्म्यं भैरवस्याभिधीयतान् ॥

क्या कथा, क्या भाव, क्या भाषा, यहां तक कि श्लोकों की आनुपूर्वी में भी पद्मपुराण का यह उपाख्यान मत्स्यपुराण के उपाख्यान से मिलता-जुलता है । ध्यान से पढ़ जाइये आप भांप जायगे कि पद्मपुराण का रचयिता आँख बन्द करके मत्स्यपुराण के पन्ने उठा कर अपनी पिढारों में सजा रहा है अथवा यों कहिये कि इन दोनों के रचयिता अपने से पूर्व विद्यमान किसी एक ही प्रपुराण ( Ur-Purana ) से अपनी अपनी सामग्री उठा रहे हैं, किंतु इस सामग्री को वहां से लेते समय इतना भी भूल गए कि इसे अपनी बनाने के लिये इस पर अपने व्यक्तित्व का जामा तो सजा दें । यह दशा है जिसमें कि वर्तमान पुराण हमारे संमुख आये हुए हैं । इनके संपादन में अत्यन्त विवेक एवं परिश्रम की आवश्यकता है ।

पद्मपुराण के षष्ठ खण्ड के ६५ वें अध्याय में नृसिंह चरित का वर्णन फिर आता है—  
जो कि प्रस्तुत चम्पू के कथानक से सर्वांशतः मिलता-जुलता है—इसी के आधार पर सूर्य दैवज्ञ पण्डित ने अपने चम्पू की रचना की है । कथा यों है—

## पद्मपुराण षष्ठ खण्ड अध्याय २६५

रुद्र उवाच—

भ्रातरं निहतं शात्वा हिरण्यकशिपुस्ततः । तपस्तेपे महादैत्यो मेरोः पार्श्वे च मां प्रति ॥१॥  
दिव्यवर्षसहस्राणि वायुमक्षो महाबलः । जपन्पद्माक्षरं मन्त्रं पूजयामास मां शुभे ॥ २ ॥  
ततः प्रहृष्टमनसा तमवोचं महानुरम् । वरं वृणीष्व दैतेय यत्ते मनसि वर्त्तते ॥

ततः प्रोवाच दैतेयो मां प्रसन्नं शुभानने ॥ ३ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । पशुपक्षिनृगाणां च सिद्धानां वै महात्मनान् ॥४॥  
यक्षविद्याधराणां च किनराणां तथैव च । सर्वेषामेव रोगाणाम् आयुधानां तथैव च ॥

सर्वेषाम् ऋषिमुख्यानामवध्यत्वं प्रयच्छ मे ॥ ५ ॥

रुद्र उवाच—

एवमस्त्विति तद्रक्षस्त्वग्रवं प्रियदर्शने । मत्तो महावरं प्राप्य स दैतेयो महाबलः ॥ ६ ॥  
जित्वा महेंद्रं देवांश्च स त्रैलोक्येश्वरोऽभवत् । सर्वाश्च यक्षभागांश्च स्वयमेवाग्रहीद् बलात् ॥  
त्रातारं नाधिगच्छन्ति देवतास्तेन निर्जिताः । तस्यैव किंकराः सर्वे गन्धर्वा देवदानवाः ॥७॥

यथाश्च नागाः सिद्धाश्च तस्यैव वशवर्त्तिनः । उत्तानपादस्य सुतां कल्याणीं नाम कन्यकाम् ॥  
उपयेने विधानेन दैत्यराजो महाबलः । तस्यां जानो महातेजा प्रह्लादो दैत्यराट् शुभे ॥१०॥  
अनुरक्तो ऋषीन्द्रेण गर्भवासेऽपि यो हरौ । सर्वावस्थासु कृतेषु मनोवाक्कायकर्मभिः ॥११॥

नान्य जानानि देवेशात्मघनाभात् सनातनात् ।

म वाने चोपनीतः सन् गुरुगेहेऽजमत् सुधीः ॥ १२ ॥

अधीत्य सर्ववेदाश्च शास्त्राणि विविधानि च । कर्मिन्श्चित्त्वथ काले च गुरुरासद् दैत्यज ॥  
पितुः समीपमागत्य वचन्दे विनयान्वितः । त परिश्रव्य बाहुभ्या तनय शुभलक्ष्मणम् ॥

अङ्गे निधाय दैत्येन्द्रः प्रोवाचेद गुचिस्मिन्ने ॥ १४ ॥

हिरण्यकशिपुश्वाच—

प्रह्लाद चिरकालं त्व गुरुगेहे निवेशितः । यदुक्तं गुरुणा वेद्यं तन्ममाचक्ष्व सुप्रज ॥ १५ ॥

इदं उवाच—

इति पृष्टो स्वपित्रा वै प्रह्लादो जन्मवैष्णवः । प्राह दैत्येन्दवरः प्रीत्या वचनं कतुषापहन् ॥१६॥

प्रह्लाद उवाच—

यो वै सर्वोपनिषदामर्थं पुरथ ईदवरः । त वै सर्वगर्भं विष्णुं नमस्तुत्वा ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥

इदं उवाच—

इति विष्णुस्तत्र श्रुत्वा दैत्यराट् विस्मयान्वितः । उवाच तं गुरुं रोषात् किं त्वयोक्तं ममात्मजे ॥  
ममात्मजस्य दुर्बुद्धे हरिसम्भवमीदृशम् । किमर्थमुक्तवान्नाह्यमकार्यं माम् मोचयितुम् ॥ १९ ॥

अध्यान्य मदभिन्नस्य स्तवमेव ममाग्रतः । कालेतापि हृतं क्षणद्वयप्रमादाद् द्विजाधम ॥२०॥

श्रुत्वा परिणो वीक्ष्य दैत्यराट् शोबमूच्छितः ।

प्राह दैत्यानमो विप्रो बभूवतामिति गच्छतः ॥ २१ ॥

इदुक्ता राक्षसा क्रुद्धा वष्टवेषा ( दन्धन ) रज्जुभिः ।

बन्धुन्म द्विजवरं भृशं दैत्येन्दवरादरा ॥ २२ ॥

बध्ममानं गुरुं दृष्ट्वा प्रह्लादो ब्रह्म-प्रियः । उवाच पित्रं तान् इदं मे नोत्तरान् गुरुः ॥ २३ ॥

कृपाया देवदेवस्य शिक्षितोऽस्मि हरिः प्रभोः । नान्यो गुरुर्न वदति म एव प्रेरको हरिः ॥

श्रोत्रा मन्ता तथा वक्ता द्रष्टा सर्वग ईदवरः । हरिरेवाश्रयः कर्ता नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥

तस्मादनाममो विप्रो मोक्षयो मे गुरुः प्रभो ॥ २५ ॥

इदं उवाच—

इति पुत्रवचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुस्तत्र । तं ब्रह्मण मोचयित्वा स्वदूतं प्राह विरजयात् ॥२६॥

हिरण्यकशिपुश्वाच—

किं वयं त्व भगवत्येव मिथ्यावक्तव्योद्विज्मनः ।

यो विष्णुः किं नु तद्रूपं कुत्रास्मौ मयिदमो हरिः ॥ २७ ॥

अहमेवेश्वरो लोके त्रैलोक्याधिपतिर्मतः । मामेवार्चय गोविन्दं त्यज शत्रुं दुरासदम् ॥ २८ ॥  
अथवा शङ्करं देवं रुद्रं लोकगुरुं प्रभुम् । अर्चयस्व सुराध्यक्षं सर्वेश्वर्यप्रदं शिवम् ॥ २९ ॥  
त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा भस्मना दैत्यपूजितम् । पूजयित्वा महादेवं पाशुपतोक्तमार्गतः ॥ ३० ॥

रुद्र उवाच—

इति दैत्यपतेर्वाक्यं श्रुत्वा दैत्यपुरोहिताः ॥ ३१ ॥

पुरोहिता ऊचुः—

एवमेव महाभाग कुरुष्व वचनं पितुः । त्यज शत्रुं कैटभारिं पूजयस्व त्रिलोचनम् ॥ ३२ ॥  
रुद्रात्परतरो देवो नास्ति सर्वप्रदो नृणाम् । पिता तवापि तस्यैव प्रसादादीश्वरोऽभवत् ॥ ३३ ॥

रुद्र उवाच—

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रह्लादो जन्म वैष्णवः ॥ ३४ ॥

प्रह्लाद उवाच—

अहो भगवतः श्रेष्ठयं यन्मायामोहितं जगत् ।

अहो वेदान्तविद्वांसः सर्वलोकेषु पूजिताः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणा अपि चापल्याद् वदन्त्येवं मदान्विताः । नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम् ॥

नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परम् ।

गतिर्विश्वस्य जगतः शाश्वतः स शिवोऽच्युतः ॥ ३७ ॥

धाता विधाता जगतो वासुदेवः सनातनः । विश्वमेवेदं पुरुषः तद् विश्वमुपजोवति ॥ ३८ ॥

हिरण्यवपुर्नित्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः । श्रीभूलीलापतिः सौम्यो निर्मलो शुभविग्रहः ॥ ३९ ॥

तेनैव सृष्टौ ब्रह्मेशौ सर्वदेवोत्तमायुभौ । तस्यैवाज्ञां पुरस्कृत्य वर्तेते ब्रह्मशङ्करौ ॥ ४० ॥

भीषाऽस्माद्वाति पवनो भीषोदेति दिवाकरः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

आसीदेको हरिर्देवो नित्यो नारायणः परः । न ब्रह्मा न च ईशानो न च चन्द्रदिवाकरौ ॥

न द्यावापृथिव्यौ च नक्षत्राणि दिवौकसः । तस्य विष्णोः परं धाम सदा पश्यन्ति सूरयः ॥

एवं सर्वोपनिषदामर्थं हित्वा द्विजोत्तमाः । रागाल्लोभाद्वाप्यन्यत्र मतिमानसाः ॥ ४४ ॥

तं सर्वरक्षकं देवं त्यक्त्वा सर्वेश्वरं हरिम् । कथं पाषण्डमाश्रित्य पूजयामि च शङ्करम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मीपतिं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् । इन्दीवरदलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥ ४६ ॥

श्रीवत्सलक्षितोरष्कं सर्वाभरणभूषितम् । सदाकुमारं सर्वेषां नित्यानन्दसुखप्रदम् ॥ ४७ ॥

कृष्णं ध्यायेन् महात्मानो योगिनः सनकादयः । यमर्चयन्ति ब्रह्मेश शक्राद्या देवतागणाः ॥ ४८ ॥

यस्य पत्न्याः कटाक्षार्पद्मया हृष्टा दिवौकसः । ब्रह्मेन्द्ररुद्रवरुणयमसोमधनाधिपाः ॥ ४९ ॥

यन्नामस्मरणादेव पापिनामपि सत्वरम् । मुक्तिर्भवति जन्तूनां ब्रह्मादीनां सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

स एव रक्षकः श्रीशो देवानामपि सर्वदा ।

तमेव पूजयिष्यामि लक्ष्म्या संयुतमीश्वरम् । प्राप्स्यामि सुसुखे नैव तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

रुद्र उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुस्तनः ।

क्रोधेन महताविष्टो जज्ज्वालाग्निरिवापरः । परितो वीक्ष्य दैतेयानित्याह क्रोधमूर्च्छितः ॥ ५३ ॥

हिरण्यकशिपुश्चाच—

भीषणे शस्त्रसङ्घानैः प्रह्लाद पापकारिणम् । समालया घातयध्व शत्रुभूजनतत्परम् ॥ ५३ ॥

रक्षिता हरिरेवेति वक्ष्यते तेन वै बलात् । अदं व मङ्गल तस्य पश्येय हरिरक्षमम् ॥ ५४ ॥

रुद्र उवाच—

ततो धृताखा दैतेया हन्तु दैत्यैश्चरानजम् । परिवार्य महात्मान तस्थुर्दैत्यैश्चराक्षया ॥ ५५ ॥

प्रह्लादोऽपि तथा विष्णुं ध्यात्वा हृदयपङ्कजे । जपत्रटाम्भर अन्त्र तस्थौ गिरिरिवापरः ॥ ५६ ॥

त जह्नुः परितो वीरा शूलानामरशक्तिभिः । प्रह्लादस्य वपुस्तत्र हरिसस्मरणाच्छुभे ॥ ५७ ॥

विष्णोः प्रभावाद् दुर्धर्षं वज्रभूतमभूद् भूशम् । अथ संप्राप्य तद् गात्र महात्माणि सुरदिशाम् ॥

क्षिप्रानि च क्षिप्रौ पेतुर्नीलोत्पलदलानि वै । अस्पृश्यस्य तद् गात्र मेतुं दैत्या न च क्षमाः ॥

विभिन्नावाट्मुखास्तस्थुर्दैत्यराशोऽन्तिके मयाः ।

तादृग्विध महात्मान इष्ट्वा पुत्र तमत्रान् ॥ ६० ॥

विरमय परम गत्वा दैत्यराट् क्रोधमूर्च्छितः ।

आदिदेश ततः सर्वान्दिन्द्रशूकान् महाविशान् ॥ ६१ ॥

बाह्विप्रभृतीन् भीमान् मन्दवध्वमिति श्रुतान् ।

आदिष्टास्तेन राक्षस्य ते नागाः सुमहाबलाः ॥ ६२ ॥

उवत्तिरास्या महार्भामारुत च्छादुर्मंशबलम् । गददध्वजमक्त न विदधय गरलाशुभाः ॥ ६३ ॥

निर्विषादिद्वयदशना बभूवुरनिलशुभाः । वीनेतेदमहस्त्रेण च्छिद्रगगानाः सुविप्रलाः ॥ ६४ ॥

प्रदुद्रुद्विदशः सर्वा वमन्तो गरिभूशम् । तादृग्विधान्नु महामर्षान् इष्ट्वा दैत्यपत्तिनदा ॥

आदिदेश ततः शूलो दिग्गजास्तु मद्राश्विजान् ।

भोदिष्टास्तेन राक्षस्य दिग्गजाश्च मशोदताः ॥ ६६ ॥

परिवार्य त जह्नुर्दन्तैः पृथुरैर्मृगम् । अथ दिग्गजदन्ताश्च च्छिद्रसूलापनन्नुवि ॥ ६७ ॥

दन्तैर्विना कृता नागा मृशानां विप्रदुद्रुवुः ।

तान्दृष्ट्वाऽथ महामागान् दैत्येन्द्रः कुपितो बली ॥ ६८ ॥

प्रज्ज्वालय महाबली विश्वेभ्य सुतमात्मन । जलशायिभ्य इष्ट्वा प्रह्लाद इष्यवाहनः ॥ ६९ ॥

न ददाह च त धीर प्रशान्तो ह्यववच्छिद्री ।

अदक्षनान त बाल इष्ट्वा राजा सुविरिमत ॥ ७० ॥

प्रादात्तमै विश्वं धीर सर्वभूतहर तदा । तस्य विष्णोः प्रभावाच्च विषमप्यमृत मवेत् ॥ ७१ ॥

अर्पणाक्षस्य देवस्य तदेवामृतमस्तुते । एवमाद्यैर्वधोपायैर्वीररूपैः मुशरूपैः ॥ ७२ ॥

भोददित्वाऽऽत्मजं तस्यावध्वान्यमेक्ष्य च । ततः सप्राट् सुतं प्राह दैत्यराट् विरमयाकुष्ठः ॥ ७३ ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

त्वया विष्णोः परत्वं च सम्यगुक्तं ममाग्रतः ।

व्यापित्वात्सर्वभूतानां विष्णुरित्यभिधीयते ॥ ७४ ॥

योऽसौ सर्वगतो देवः स एव परमेश्वरः । तस्य सर्वगतत्वं वै प्रत्यक्षं दर्शयस्व मे ॥ ७५ ॥  
ऐश्वर्यशक्तितेजांसि ज्ञानवीर्यबलानि च । पश्येयं तस्य परमं रूपं गुणविभूतयः ॥ ७६ ॥  
सम्यग्दृष्ट्वा प्रयत्नेन विष्णुं मन्ये दिवौकसम् । मम प्रतिबलो लोके नास्ति देवेषु कश्चन ॥  
ईशानवरदानेन सर्वभूतेष्ववध्यताम् ।

प्राप्तवान् सर्वभूतानां दुर्जयत्वं च मानद । ईश्वरत्वं लभेद्विष्णुर्मा जित्वा बलवीर्यतः ॥ ७८ ॥

महादेव उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः प्राह विस्मितः । हरेः प्रभावं दैत्यस्य कथयामास सुव्रतः ॥

प्रह्लाद उवाच—

योऽसौ नारायणः श्रीमान् परमात्मा सनातनः । वसनात्सर्वभूतेषु वासुदेवः स उच्यते ॥  
सर्वस्यापि जगद्धाता विष्णुरित्यभिधीयते । न किञ्चिदत्मादन्यत्र जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ८१ ॥  
सर्वत्र चिदचिद्रस्तु रूपं तस्यैव नान्यथा । त्रिपादव्याप्तिः परव्योम्नि पादव्याप्तिरिद्वाच्युतः ॥  
योऽसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ।

योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नामक्या दृश्यते क्वचित् ॥ ८३ ॥

द्रष्टुं न शक्यो रोषाद्वै मत्सराद्यैर्जनार्दनः । देवतिर्यङ्मनुष्येषु स्थावरेऽपि च जन्तुषु ॥ ८४ ॥  
व्याप्य तिष्ठति सर्वेषु क्षुद्रेष्वपि महत्सु च ॥ ८५ ॥

महादेव उवाच—

इति प्रह्लादवचनं श्रुत्वा दैत्यवरस्तदा । उवाच रोषताम्राक्षो भर्त्सयन्त्वसुतं मुहुः ॥ ८६ ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

असौ सर्वगतो विष्णुरपि चेत्परमः पुमान् । प्रत्यक्षं दर्शयस्वाद्य बहुभिः किं प्रलापितैः ॥ ८७ ॥  
इत्युक्त्वा सहसा दैत्यः प्रासादस्तन्ममात्मनः । ताडयामास हस्तेन प्रह्लादमिदमब्रवीत् ॥

हिरण्यकशिपुर्वाच—

अस्मिन्दर्शय तं विष्णुं यदि सर्वगतो भवेत् ।

अन्यथा त्वां वधिष्यामो मिथ्यावाक्यप्रलापिनम् ॥ ८९ ॥

महादेव उवाच—

इत्युक्त्वा सहसा खड्गमाकृष्य दितिजेश्वरः । प्रह्लादोरसि चिक्षेप हन्तुं खड्गेन तं रुषा ॥ ९० ॥  
तस्मिन्क्षणे महाशब्दः स्तम्भे संश्रूयते भृशम् ।  
संवर्तशिनिसंरावैः खमिव स्फुटितान्तरम् ॥ ९१ ॥  
तेन शब्देन महता दैत्यश्रोत्रविधातिना । सर्वे निपातिता भूमौ छिन्नमूला ह्य द्रुमाः ॥ ९२ ॥

विभ्यनि सप्पुन दैत्या मेनिरे वै जगत्त्रयम् ।

तत स्तम्भे महातेजा निष्क्रान्तो वै महाहरिः ॥ ९३ ॥

चकार सुमहाघोर जगत्क्षयकर स्वनम् । तेन नादेन महता तारकाः पतिता भुवि ॥ ९४ ॥

नृमिह वपुरास्थाय तत्रैवाऽऽविरभूदरिः । अनेककोटिभूयान्नितेजसा सुममावृतः ॥ ९५ ॥

मुक्ते पञ्चाननप्रख्यं शरीरे मानुषाकृति । दष्टाकरालवदन स्फुरज्जिह्वावरोद्धतः ॥ ९६ ॥

ज्वालावलिनवेशान्नस्तप्तालातेष्णो विभुः । सहस्रबाहुभिर्दीर्घैः सर्वायुधसमन्वितैः ॥ ९७ ॥

वृन्दो मेरिवासानि बहुशारानगान्वितः । दिव्यमालाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ९८ ॥

तस्यै नृकेमरी तत्र सङ्गतं सर्वदानवान् । तं दृष्ट्वा घोरसकाश नारमिह महाबलम् ॥ ९९ ॥

[ दग्धाक्षिपक्ष्मो दैत्येन्द्रो विह्वलाङ्गः पपात ह ।

प्रछादोऽथ तदा दृष्ट्वा नारमिहोपम हरिम् ॥ १०० ]

जयन्धेन देवेश नमस्चक्रे जनार्दनम् । ददर्श तस्य गात्रेषु नृसिंहस्य महान्मनः ॥ १०१ ॥

लोकान्ममुद्रान्सदीपान् सुरगन्धर्वमानुषान् । अण्डजानां सहस्रं तु सदाग्रे तस्य दृश्यते ॥

दृश्यन्ते तस्य नेत्रेषु मोमसूर्वादयस्तथा ।

[ वर्गयोरश्विनौ देवौ दिशश्च विदिशस्तथा ॥ १०३ ॥ ]

ललाटे ब्रह्मरद्वौ च नमो वायुदेव नासिके ।

शन्द्राग्नी तस्य वक्त्रान्ते जिह्वायां च सरस्वती ॥ १०४ ॥

दष्टासु सिंहशार्ङ्गलक्षरमाश्च महोरगाः ।

वण्ठे च दृश्यन्ते मेघः स्कन्धेष्वपि (न्येऽरि च) महाद्रवः ॥ १०५ ॥

देवनिर्गन्धमनुष्याश्च बाहुष्वपि महात्मनः ।

नामो चास्यान्तरिक्षे च पादयोः पृथिवी तथा ॥ १०६ ॥

रोनस्वौषधयः सर्वाः पादश नलपत्तिषु । नि श्वासेषु च वेशश्च साक्षोपाङ्गसमन्विताः ॥ १०७ ॥

आश्रित्या वसतो रुद्रा विभेदेवा मध्दृग्गाः । सर्वाङ्गेषु प्रदृश्यन्त गन्धर्वाम्बरसश्च ये ॥ १०८ ॥

इत्थं विभूतयस्तस्य दृश्यन्ते परमात्मनः । श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं वननाम्नविभूषितम् ॥

शङ्खचक्रगदासङ्गशास्त्रावेहैतिभिर्भुजैः । सर्वोपनिषदामर्थं दृष्ट्वा दैत्येश्वरात्मजः ॥ ११० ॥

हर्षाक्षुजलमिच्छाङ्गः प्रगताम मुहुर्मुहुः । दैत्येन्द्रस्तु हरिं दृष्ट्वा प्रीधान्मृत्युवशे स्थितः ॥ १११ ॥

योद्धुं गच्छ मनुष्यस्य नृमिहं तमथाद्रवन् ॥ ११२ ॥

स्वान्ध्यायुधानि चादाय हरिं जप्नुस्त्वरान्विता । पल्लवाकाण्डानि यथा वह्नौ क्षिप्तान्यनेकशः ॥

तथैव भरमतां यान्ति महिम्नायुधानि वै । तान्यनेकानि दैत्यानां दृष्ट्वा नरहरिस्तदा ॥

सदैर्ददाह च ज्वालामालाविरचितस्तुष्टैः । नृकेमरिसदोद्भूतवद्दिना दानवा भृशम् ॥ ११५ ॥

निर्भग्निताः क्षात्रं सर्वे निःशेष तदभूद् बलम् ।

प्रछाद सानुग हित्वा मरिमते रक्षमा बने ॥ ११६ ॥

क्रोधेन दैत्यपति सङ्गमात्प्याम्यप्रपद्यत । सङ्गहस्तं तु दैत्येन्द्रं अग्राहेकेन बाहुना ॥ ११७ ॥

पातयामास देवेदो यथा शाखा महानिलः । गृहीत्वा पतिन भूमौ मदाकाय नृकेमरी ॥ ११८ ॥

स्वोत्सङ्गे स्थापयित्वा च ददर्शासौ मुखं हरेः (हरिः) ।

विष्णुनिन्दाकृतं पापं तथा वैष्णवद्वेषजम् ॥ ११९ ॥

नृसिंहस्पर्शनादेव निर्भस्मितमभूत्तदा । अथ दैत्येश्वरस्यासौ महद्गात्रं नृकेसरी ॥ १२० ॥  
नखैर्विदारयामास तीक्ष्णैर्वज्रनिभैर्धनैः । स निर्मलात्मा दैत्येन्द्रः पश्यन्ताक्षान्मुखं हरेः ॥ १२१ ॥  
नखैर्निभित्रहृदयः कृतार्थो विजहावसून् । तद्गात्रं शतधाभित्वानखैस्तीक्ष्णैर्महाहरिः ॥ १२२ ॥  
आकृष्यान्त्राणि दीर्घाणि कण्ठे संसक्तवान् प्रियात् । अथ देवगणाः सर्वे मुनयश्च तपोधनाः ॥  
ब्रह्मर्द्रौ पुरस्कृत्य शनैः स्तोतुं समाययुः । ते प्रसादयितुं मीता ज्वलितं विश्वतोमुखम् ॥ १२४ ॥  
मातरं जगतां धार्त्रीं चिन्तयामासुरीश्वरीन् । हिरण्यवर्णी हरिणीं सर्वोपद्रवनाशिनीम् ॥ १२५ ॥  
विष्णोर्नित्यानवधाङ्गीं ध्यात्वा नारायणीं शुभाम् । देवीसूक्तं जपन्ती वै नमश्चक्रुः सनातनीम् ॥  
तैश्चिन्त्यमाना सा देवी तत्रैवाऽऽविरभूत्तदा । चतुर्भुजा विशालांक्षी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२७ ॥  
दुकूलवस्त्रसहिता दिव्यमालानुलेपना । तां दृष्ट्वा देवदेवस्य प्रियां सर्वे दिवौकसः ॥ १२८ ॥  
ऊचुः प्राञ्जलयो देवीं प्रसन्नं कुरु ते प्रियम् । त्रैलोक्यस्याभयं त्वामी यथा दद्यात्तथा कुरु ॥

महादेव उवाच—

इत्युक्ता सहसा देवी प्रियं प्राप्य जनार्दनम् । प्रणिपत्य नमस्कृत्य प्रसीदेति उवाच तम् ॥

तां दृष्ट्वा महिषीं स्वस्य प्रियां सर्वेश्वरो हरिः ।

रक्षःशरीरजं क्रोधं तत्याज स तु तत्क्षणात् ॥ १३१ ॥

अङ्गमादाय तां देवीं समादिलिप्य दयानिधिः । कृपासुधारद्रष्टृया वै निरैक्षत महाहरिः ॥ १३२ ॥  
ततो जय जयेत्युच्चैः स्तुवतां नमतां तदा । तद्यथादृष्टिं तुष्टानां सानन्दः संभ्रमोऽभवत् ॥  
ततो देवगणाः सर्वे हर्षनिर्भरमानसाः । ऊचुः प्राञ्जलयो देवं नमस्कृत्य जगत्पतिम् ॥ १३४ ॥

देवा ऊचुः—

द्रष्टुमत्यद्भुतं तेजो न शक्तास्ते जगत्पते । अत्यद्भुतमिदं रूपं बहुबाहुपदाङ्कितम् ॥ १३५ ॥  
जगत्त्रयं समाक्रान्तं तेजस्तीक्ष्णतरं तव । द्रष्टुं स्थातुं न शक्ताः स्म सर्वे एव दिवौकसः ॥

महादेव उवाच—

अत्यथितस्तु विबुधैस्तेजस्तदतिभीषणम् । उपसंहृत्य देवेशो बभूव सुखदर्शनः ॥ १३७ ॥  
शरत्कोटीन्दुसंकाशः पुण्डरीकनिभेक्षणः । सुधामयसटापुञ्जविद्युत्कोटिनिभः शुभः ॥ १३८ ॥  
नानारत्नमयैर्दिव्यैः केयूरैः कटकान्वितैः । बाहुभिः कल्पवृक्षस्य शाखौघैरिव सत्फलैः ॥ १३९ ॥  
चतुर्भिः कोमलैर्दिव्यैरन्वितः परमेस्वरः । जपाकुसुमसंकाशैः शोभितः करपङ्कजैः ॥ १४० ॥  
शङ्खचक्रगृहीताभ्यामुद्बाहुभ्यां विराजितः । वरदामयहस्ताभ्यामितराभ्यां नृकेसरी ॥ १४१ ॥  
श्रीवत्सक्रौस्तुभोरस्को वनमालाविभूषितः । उद्यद्दिनकरामाभ्यां कुण्डलाभ्यां विराजितः ॥  
हारकेयूरकटकैर्भूषणैः समलङ्कृतः । सव्याङ्गस्थप्रिया युक्तो राजते नरकेसरी ॥ १४३ ॥  
लक्ष्मीनृसिंहं तं दृष्ट्वा देवताः समहर्षयः । आनन्दाश्रुजलैः सिक्ता हर्षनिर्भरचेतसः ॥ १४४ ॥  
आनन्दसिन्धुमग्नास्ते नमश्चक्रुर्निरन्तरम् । अर्चयामासुरात्मेनं दिव्यपुष्पसमर्पणैः ॥ १४५ ॥



रत्नकुम्भी सुधापूजैरभिषिच्य सनातनम् । वस्त्रैरामरणैर्गन्धैः पुष्पैर्धूपमनोरमैः ॥१४६॥  
 दिव्यनिवेदिनैर्दीपैरर्चयित्वा नृकेमरिम् (१) । तुष्टुबुद्धिव्यस्तुतिभिर्नमस्कृतमुदमुदम् ॥१४७॥  
 ततः प्रसन्नो लक्ष्मोऽशस्नेषामिष्टान्वरान्ददौ । ततो देवगणैः सार्धं सर्वेशो भक्तवत्सलः ॥१४८॥  
 प्रह्लाद सर्वदैत्यानां चक्रे राजानमव्ययम् । आदवास्य भक्त प्रह्लादमभिषिच्य सुरोत्तमैः ॥  
 ददौ तस्मै वरानिष्टान् भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् । ततो देवगणैः सार्धं स्तूपमानो नृकेमरी ॥  
 विकीर्णः पुष्पवर्षेस्तु तत्रैवान्तरधीयत । ततः सुरगणाः सर्वे स्व स्व स्थानं प्रपेदिरे ॥१४९॥

पुनश्च यज्ञभागाश्च तुमुजुः प्रीतिमानसाः ।

ततो देवाः सगन्धर्वाः निरातङ्गाऽभवन्तथा ॥ १५२ ॥

नरिमन्दते महादेस्ये सर्वे एव प्रहर्षिता । प्रह्लादस्तु तदा चक्रे राज्यं धर्मेण वैष्णवः ॥१५३॥  
 हरेः प्रसादलब्धं तु वैष्णवः राज्यमुत्तमम् । बहुभिर्यज्ञदानाद्यैरर्चयित्वा नृकेमरिम् ॥१५४॥  
 काले हरिपदं प्राप्तो योगिगम्य सनातनम् । एतत्प्रह्लादचरितं ये तु शृण्वन्ति नित्यशः ॥१५५॥  
 ते सर्वे पापनिर्मुक्ता आस्यन्ति परमां गतिम् । एतत्ते कथितं देवि नृसिंह वैभवं हरेः ॥

शेषां च वैभवावस्थां शृणु देवि यथाक्रमम् ॥ १५६ ॥



## कथा-सार

कथा का सार यों है:—

भगवान् रुद्र पार्वती से बोले कि अपने भाई हिरण्याक्ष को युद्ध में मरा देख हिरण्यकशिपु को दारुण संताप हुआ और उसने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त श्री शंकर की अर्चना की। शंकर ने प्रसन्न होकर उससे शष्ट वर मांगने को कहा जिस पर उसने देव-दानव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी से अवध्यता का वर माँगा। शंकर 'तथास्तु' कह कर चले गये।

अवध्यता का वर पाकर दैत्यराट् अभिमान में चूर हो मनमाने अत्याचार करने लगा और यज्ञ में देवताओं को दिये जाने वाले भाग को भी स्वयं ही भोगने लगा। इन्हीं दिनों उसने उत्तानपाद की कल्याणी नामक कन्या से विवाह किया जिससे उसे विष्णुभक्त प्रह्लाद नामक पुत्र का लाभ हुआ।

प्रह्लाद की शिक्षा-दीक्षा यथाविधि संपन्न हुई और वह गुरुकुल से सब विद्याओं में निपुण होकर घर लौटा।

घर आते ही पिता ने उसे गोद में ले लिया और उससे पूछा कि तुमने गुरुकुल में क्या-क्या सीखा है। प्रह्लाद ने अपनी कथा विष्णु को नमस्कार करके आरम्भ की। किन्तु विष्णु का नाम सुनते ही हिरण्यकशिपु के कान खड़े हो गये और वह तड़क कर बोला कि 'यह विष्णु कौन है जिसका नाम तुमने इतने प्रेम से लिया है।' उसकी विष्णुभक्ति का दोष गुरु के माथे मढ़ कर दैत्यराट् ने गुरु के वध की आज्ञा अपने भृत्यों को दी; किन्तु प्रह्लाद ने यह कह कर कि 'इसमें गुरुजी का क्या दोष? यह तो मेरी अपनी ही सहज भक्ति है' अपने गुरु की रक्षा की। तब दैत्यराट् प्रह्लाद से बोला कि विश्व में विष्णु का क्या काम? इसका पालक एवं संहर्ता तो मैं हूँ—तुम मेरी पूजा करो—और यदि तुम्हें मेरे से पृथक् ही देव की वन्दना करनी है तो श्री शंकर की आराधना करो, जिन्होंने कि मेरा मनोरथ साधा है। विष्णु को मन से मुला दो; वह है ही कहाँ कि तुम उसे पूजो?' किन्तु कल्याण-मार्ग के पथिक प्रह्लाद ने पिता की एक न सुनी—उसे तो जग के कण-कण में विष्णु की लीला देख रही थी; जिधर देखो वहीं उसे उन्हीं का रास चलता देख रहा था। उसने फिर पिता के सम्मुख विष्णु का स्तव आरम्भ कर दिया। दैत्यराट् के क्रोध का पारा उद्धल गया और उसने दैत्यों को प्रह्लाद का वध करने की आज्ञा दे दी।

दैत्यराट् का आदेश होना था कि प्रह्लाद पर अस्त्र शस्त्रों की बौछार पहने लगी—उसे पहाड़ से गिराया गया, माँपों से कटवाया गया, दिग्गनों से कुचलवाया गया—यहाँ तक कि उसे अग्निकुण्ड में डाल दिया गया। किन्तु त्रिमूर्ति वर्म स्वयं विष्णु भगवान् बन गये हों उस पर चोट कैसी ? दैत्यों के अस्त्र कुण्ठित हो गये, पहाड़ राख बन गए, मान गिजाख बन गए, दिग्गन हिरण्य बन गए और अग्निकुण्ड से धौते फूट निकले—विष्णु का वैभव ! उसके चेरे को आँच कैसी ?

इत्यादि सभी उपर्यों को प्रह्लाद पर बेकार होने देव दैत्यराट् से न रहा गया और वह स्वयं स्नान लेकर उस पर लपका और बोला 'कहाँ है अब मेरा वह विष्णु ! बुला उसे मामने ! यदि वह सर्वन्यायक है तो क्यों नहीं निकलना मामने के इस स्नान से ? अब तुम न होगे और तुम्हारा विष्णु न होगा ! दोनों ही मेरी तलवार से खन रहेंगे !' यह कहकर उसने अपनी दाक्षिण तलवार प्रह्लाद पर फेंक दी। तलवार का प्रह्लाद तक पहुँचना था कि सम्भे से दिव्य नाद हुआ और बत्ती के साथ उसमें से नृसिंह आविर्भूत हो गये। प्रह्लाद उस अवतार का दर्शन करते ही गद्गद हो उसकी आराधना में लग गये, किन्तु दैत्यगण उसके विजय मारे रूप को देख भाग पड़े हुए, और कुछ वहाँ पर गिर पड़े। किन्तु हिरण्यकशिपु तो शेर की मज्जा पर पला था—वह न डरा और न विचलित हुआ, उल्टा सट्टा उठाकर नृसिंह पर शपथ, किन्तु उसके आने से पहले ही नृसिंह ने अपने पंखों से उसे चीर डाला। हिरण्यकशिपु के गिरते ही सार दैत्य ठट पड़ गये।

नृसिंह का क्रोध पराकाष्ठा पर जा लगा था, जगती उसे देव धर्ता उठी और देवताओं ने महालक्ष्मी का आराधना करके उसे जनके सम्मुख भेजा। भगवती का दर्शन पाकर नृसिंह शान्त हो गये, और उन्हें अपनी अङ्गु में बिठारकर उन्होंने शांति मुद्रा से देवताओं की ओर देखा। देवताओं ने अस्त्र देवस्त्र सहोने उग्र रूप त्यागकर अपने दयार्थ सौम्यमय रूप को धारण कर लिया। तब देवता प्रमत्त होकर 'जय जय' बोल उठे।

इस घटना ने प्रह्लाद की भक्ति को चार चौद लग दिखे और उसकी नमस्नान में अब विष्णु का भक्ति रस गए। उसका यथाविधि राजनितिक हुआ और लक्ष्मी का मत्पर्य पाकर उसकी भक्ति और भी निगर उठी।

पद्मपुराण का यह कथांश कुछ कालों में अनूठा है। हमने भक्तान् ने प्रह्लाद पर होने वाले अत्याचारों से रौंदकर नृसिंहवत्तर धारण किया और हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को विष्णुभक्ति छोड़ कर की आराधना करने की बारम्बार सलाह दी, जो कि उसका अस्तिमत्ता का परिचायक है। उसका यह कथन —

अथवा शरद देव यद् लोकं शुभं प्रभुम् ।

अर्चयस्व गुराध्यथ सर्वैश्वर्यप्रदं दिवम् ॥

उसकी आस्तिक भावना का उल्लन्त प्रतीक है। किन्तु शैवों और वैष्णवों में वधार्थ-तत्त्व को न पहचानने के कारण झगड़ा होता रहा है—एक सन्प्रदाय रुद्र-शंकर का पुजारी रहा है तो दूसरा सन्प्रदाय मनोरञ्जक शंकर (= विष्णु) की आराधना करता आया है। एक ने भगवान् के दारुण रूप की नीराजना की है तो दूसरे ने उसके रुचिकर लोक-संग्राहक रूप की अर्चना की है। मत्स्यपुराण के प्रस्तुत उपाख्यान में (शंकर के दारुण रूप का परित्याग करके) विष्णु के दारुण रूप की उत्थानिका की गई है और बताया गया है कि विष्णु ही समय-समय पर भक्तभयहरण के लिये दारुण रूप धारण करते हैं।

यह हुआ पद्मपुराण का नृसिंहावतार-वर्णन। सूर्यदैवज्ञ ने इसी के आधार पर अपने चम्पू का निर्माण किया है और विष्णु-स्तवन को ही ज्ञान-विज्ञानों का तार मान कर अपने जीवन का चरम लक्ष्य इसे ही बनाया है।

उद्धृत पुराणखण्डों में कौन सा पूर्व और कौन सा बाद का है इसका निर्णय करना कठिन है, किन्तु यदि उत्तरोत्तर विकास-क्रम को कसौटी मान लिया जाय तो कुछ निम्न प्रकार की रूपरेखा उभरती दीखेगी।

‘हिरण्यकशिपु के वधार्थ नृसिंहावतार हुआ’ इस बात पर सभी पुराण एकमत हैं। अतः कथा का मूलतत्त्व इस बात को मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। इसी एक रेखा के द्वारा सब कथाखण्डों में तार्त्विक एकता उभरती है।

सब से पहले ब्रह्मपुराण की लीजिये; इसमें इसी मूलतत्त्व का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। हिरण्यकशिपु की आततायिता के कारण नृसिंह का अवतार हुआ वस यही इस पुराणांश का प्रतिपाद्य विषय है। यहां न तो नृसिंह का वैशिष्ट्य ही अभिधेय है और न प्रह्लाद की विष्णुभक्ति ही।

इसके बाद स्कन्दपुराण के कथाभाग की लीजिये—इसमें नृसिंह-तीर्थ का वर्णन करके मूलकथा में वैशिष्ट्य का समावेश किया गया है। सब पूछिये तो इसमें नृसिंह-तीर्थ का वर्णन अपेक्षित है न कि नृसिंह के माहात्म्य का प्रतिष्ठान। फलतः यह कथाभाग ब्रह्मपुराण के बाद का दोख पड़ता है।

इसके अनन्तर ब्रह्माण्ड तथा वायु-पुराण की रखा जाय तो अनुचित न होगा। इन पुराण-खंडों में मूलकथातत्त्व के साथ प्रह्लाद का नामोल्लेख समाविष्ट है। भागवत आदि पुराणों में प्रह्लाद ही की उपनायक के रूप में प्ररोचना की गई है।

प्रस्तुत कथा का चतुर्थ संस्करण हमें कूर्मपुराण में होता दोख पड़ता है—इसमें प्रह्लाद हमारे संमुख एक भक्त पात्र के रूप में आते हैं—जो कि पहले-पहल पिता के आदेश पर भगवान् नृसिंह से युद्ध करते हैं, पर जब उनके सारे ही अस्त्र बेकार हो

जाते हैं तब वे विष्णु के भक्त बन जाते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रह्लाद एक अभिनायक के रूप में प्रकट होते हैं।

इसके अनन्तर हम मत्स्य एवं पद्मपुराण के कथाओं को रोंगे। इन उपार्यानों में प्रह्लाद भगवान् नृसिंह के विराट् रूप का दर्शन पाते हैं और उनके हृदय में विष्णु भक्ति का स्रोत फूट पड़ता है। वहाँ वे पिता के आदेश पर विष्णु से युद्ध नहीं करते—अपितु अपने पिता को विष्णु की महिमा बताते हुए उनके सामने आते हैं। इन दोनों पुराणों में दैत्यराज की सभा का विस्तृत एवं मनोरञ्जक वर्णन है और उसके प्रचण्ड क्रोध एवं तज्ज्वलित उपप्लव का पड़ना विचित्र है।

पद्मपुराण के षष्ठ्युद का कथा भाग हम उपारयान का चरम संस्करण प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवत एवं नृसिंहपुराण आदि में भी इससे मिलना-जुलना उपारयान उपलब्ध होता है। यहाँ पहुँच हिरण्यकशिपु, नृसिंह आदि सभी प्रह्लाद की विष्णुभक्ति में कीड़े पड़ जाते हैं और वही एक उवलन्त नष्ट्र की न्याई आकाश में प्रकाशमान दीख पड़ते हैं। अथ से इति तक सारी ही कथा यहाँ प्रह्लाद के चहुँ ओर घूमती है। शैव वैष्णव का भेद भी यहाँ पहुँच कर भारी पड़ जाता है—पिता यदि सत्तर की आराधना का हामी है तो पुत्र विष्णु की पूजा पर निर्वन्ध दिखाता है। यहाँ आकर नृसिंहावतार के मूल में भी भेद पड़ जाता है, अन्य पुराणों में नृसिंहावतार का कारण प्रजा एवं देवताओं पर किये गये हिरण्यकशिपु के अत्याचार हैं तो यहाँ उसका कारण पिता के हाथों प्रह्लाद पर किये गये अत्याचार है।

सूर्य दैवज्ञ ने अपने चम्पू का निर्माण इसी कथा के आधार पर किया है।

वैदिक काल से ही भारतीय भाषों ने अनेकता को दुरा एकता में आनन्द हुआ है और इसीलिए उन्होंने शान के उन्मेष में इन्द्र, मित्र वरुण, यम आदि सभी देवताओं का पर्यवसान एक महान् देव में किया है, जिसका नाम कि उन्होंने ब्रह्म (= बड़ा) रखा है। उसी की रोज़ एवं उसी एक में तमय हो जाने में उन्होंने अपने जीवन की इति कर्मन्वयता मानी है। और यह बात है भी हमारे अनुभव के अनुकूल ही—क्योंकि जब तक एक प्रणया अपने प्रियतम से मिटकर नश्वर नहीं हो जाता तब तक प्रेम रस अनछना रहता है और इन दोनों की सत्ता एकता के परम रस में सराबोर न हो जाने के कारण कुछ छिन्नी सी, कुछ बहरी सी, अपनी असली जगह से कुछ सरकी मा इधर-उधर भटकती रहती है। उपनिषदों ने 'द्वितीयाद् वै भय भवति' इसी लिए कहा है।

प्रेम का आकर्षण प्राणी के लिए वरना ही स्वाभाविक है जिनका बि पानी के लिये बहना और वायु के लिये चञ्चलता। किंतु यह चाह किम काम की जिनका जिनका नश्वर हो—नश्वर का मिठास तो अविनाशी से उधार लिया हुआ है। उसका अपना

कुछ भी नहीं है। इसी लिए मनीषियों ने आदि काल से ही उस अविनाशी तत्त्व से दिल लगाया है जो त्रिकालावाहित है, और जो सत्, चित्, आनन्द का घन रूप है। आह्लाद के इसी मूल स्रोत को तत्त्वज्ञानियों ने परमात्मा (= महान् आत्मा) कह कर पुकारा है।

यह परम तत्त्व इन्द्रियों की पहुँच से अतीत है, किन्तु क्या कहना इसकी करामात का ? इस अव्यक्त ने अपने जादू से इस व्यक्त को प्रकट किया है—और क्योंकि व्यक्त करने के समय उस अव्यक्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, इस लिये कह सकते हैं कि उस अव्यक्त ने अपने आप को ही इस व्यक्त प्रपञ्च के रूप में प्रकट किया है। वस, अद्वैतवाद की भित्ति व्यक्ताव्यक्त के इसी भेदाभेद पर निर्भर है।

संक्षेप में अव्यक्त व्यक्त के रूप में प्रपञ्चित हुआ—यह कब हुआ और इसका अन्त कब होगा—इन समस्याओं से एक समझदार व्यक्ति को क्या ? अव्यक्त का व्यञ्जन होना ही था और व्यक्त को एक दिन अव्यक्त बन ही जाना है—इसमें मानव का क्या चारा ? हमारा नाता तो वर्तमान के साथ है; हमें तो वर्तमान प्रपञ्च के अन्तस्तल में पहुँच उसकी सतह ढूँढ़नी और वहाँ अपना बसेरा डालना है।

इस व्यक्त प्रपञ्च को चलाने वाले तत्त्व को मनीषियों ने विष्णु कहकर पुकारा है—क्योंकि विष्णुतत्त्व इस प्रपञ्च के कण-कण में व्याप्त है और वह इसे संतत किसी अज्ञात दिशा की ओर ले जा रहा है, या कहिये कि स्वयं विष्णु भगवान् इस विशाल प्रपञ्च रूपी देह को धारण किये हुये किसी अज्ञात पद की ओर तेजी से चले जा रहे हैं। यह अनन्त प्रपञ्च, यह विपुल काय, यह असीम शक्ति जो इसे तेजी से आगे बढ़ा रही है—मानव के आश्चर्य के लिए पर्याप्त से अधिक है। फिर इसके किसी एक कण को ध्यान से देखिये—कितने रंग हैं उसमें, कितनी भगियाँ हैं उस एक में, कितनी अदाएँ, कितनी चित्तवर्नें और कितना मिठास है उस एक में। गुलाब की एक पंखड़ी को लीजिये—गिनिये उसके रेशों को और परखिये उसके मुसकराते रंगों को—वे कितने हैं, कैसे हैं—कितने चुप हैं पर कितना अधिक बोल रहे हैं वे अपनी उस मौन मुद्रा में ? गुलाब की पंखड़ी के रेशे की चुप्पी में ब्रह्माण्ड का अमित रव भरा हुआ है। और यदि गुलाब के स्मित मौन तन्तु में आपको आनन्दमद नहीं मिल पाता तो आप अपने प्रियतम की पुतली के एक रेशे को निहारिये। कितना मादक महान् समुद्र उमड़ रहा है उसमें ? उसकी लहरों में आप झूल रहे हैं—उनमें आप सुतरां खोए जा चुके हैं किन्तु फिर भी आप सब कुछ कर रहे हैं। इस जीने-न जीने, रहने-न रहने को ही माया कहते हैं। इसी असीम मायावरण को छाती पर लिए हुए विष्णु भगवान् किसी अज्ञान दिशा की ओर आगे बढ़ रहे हैं। हमें अपनी चाल को उनकी चाल में भिलाकर एक कर देना है—अपने तिल समान देह को उनके विपुल काय में लीन कर देना है—क्योंकि वस्तुतः

दोनों एक हैं—हम उसी विपुल ज्वालामाल के शील मात्र हैं, उसका विस्फारमात्र हैं।

यह हुआ वैश्वों का अद्वैत। रामानुज ने हमरा विशिष्टाद्वैत के रूप में, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत के रूप में, मध्व ने द्वैतवाद के रूप में और वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद के रूप में प्रमाणन किया है, जब कि शंकर का नितान्त अद्वैत सभी वादों की छात्रियों को पार करके पक्व के परम पद पर ना लगा है—हिंदु पूजा उममें भी प्रतीयमान प्रवर्तमान परम तत्त्व ही की है। वन्देव के अभिनय भेदाभेदवाद में भी विष्णुतत्त्व हा की प्रतीचना हुई है, जब कि एक मात्र श्रीकृष्ण शैवाचार्य ने अपने ब्रह्ममूत्र माध्य में शिवरूप चरम तत्त्व की उत्थानिका बरके उमी में विनोत हो जाने में अपने जीवन को मार्थक माना है। बहने का आशय यह है कि अद्वैत की विशद रमराग विष्णु के नाभिकमल में प्रवाहित हुई है—क्योंकि परम तत्त्व का वर्तमानकालिकरूप विष्णु है और एक मानव का पहुँच वर्तमान काल के साथ है न कि अतीत अथवा भविष्यत् के साथ।

वर्तमान के साथ उत्पन्न हुए हमारे 'सहितपन' में ही साहित्य का उन्मेष हुआ है। कह सकते हैं कि जो वाणी परम तत्त्व के साथ मानव का 'सहितपन' अथवा तादात्म्य उभारती है सच्चा साहित्य वही है। शारद्वत तत्त्व के साथ 'सहितपन' शान चर्चा से नहीं होगा, विशाल से नहीं होगा, वह तो विर्मा उठनी हुई उक्ति के द्वारा उन्नीत होगा है जो अलकारिणी प्रक्रिया में छन-छन कर, परिष्कृत हो-ही कर इनकी लचीली लम्बा बन गई है कि शायद तत्त्व का मारा ही व्यक्तित्व उममें समा गया है, उममें प्रतिफलित, सचिन एवं उन्मिषित हो गया है। इस प्रकार की उक्ति कवि के अन्तरात्मा से निकल विश्व के किसी एक बिन्दु पर पड़ता और उमे इनन विपुल आकार में परिवर्तित बरके हमारे समुख पेश करती है कि उसमें विष्णु का व्याकरूप झलक जाता है और उसके असीम सौन्दर्यमय व्यक्तित्व का वह का केन्द्र बन जाता है जिसे कि कवि आपकी आँखों में बसाना चाहता है। और क्योंकि अब हम बिन्दु में विष्णुरूप अपार मागर भर गया है इसलिये अब यह बिन्दु भी अमर बन गया है—यावत्तच्छन्दविवाकर सङ्कल्पों को पिराने और हमाने वाला बन गया है। साहित्य का यथार्थ मर्म इसी बात में है।

आप जिसे दिल से चाहते हैं उसे देखते नहीं, उसे तो आप अपनी आँखों से पिया करते हैं। आँखों द्वारा देखने पर गन्ने का गीला बड़ा मनोरम दृश्य पड़ता है। गन्ने के अग्रभाग का सुकुमार दृश्य में विभक्त होकर हवा में नाचना और आकाश में इसना एवं बहिराणा कितना प्यारा मालूम पड़ता है। किन्तु जब आप गन्ने को चूमठ और निठाम के उन्माद में उसकी पोरी पोरी के टुकड़े कर टाकते हैं तब आप गन्ने को देखते नहीं, उसे पीते हैं। और यह पीना कितना स्वर्गिय है? कितनी गन्धों का रस हमने मरा हुआ है। हम रस को आप चखते हैं बना नहीं सकते, क्योंकि यह आपका अपना भाग है और अपने आप को आप किसी के सामने कैसे रखेंगे? देखने की प्रक्रिया

आपको एक अनोखी, किरणों में उतराती-सी लोकोत्तर आकृति दिखाता है तो पीने की प्रक्रिया आपको दृश्यमान आकृति का ध्वंस करके एक ऐसी आकृति का निर्माण करने में सशक्त करती है जो सुतरां वायुमयी या किरणमयी लजीली आकृति है, पर फिर भी जिसकी पोरी पोरी में मादक रस जोश मार रहा है; आपका अपना आपा छलक रहा है। इस रस के साथ आप एक हो जाते; पानी में नमक को न्याई आप उसमें घुल-मिल जाते; और आपके रोम-रोम में एक अनोखी पीर फिरने लगती है; जिसे हम साहित्य की पीर कह कर पुकारा करते हैं। आचार्यों ने इसका नाम रसास्त्राव रखा है।

हमारे पुराणों में रस के उद्भव का अत्यन्त मनोरम वर्णन आता है। बृहद्मन्त्र पुराण के ४३ वें अध्याय में स्वर्गलोक में गंगा अपनी जयमाला शिवजी को पहनाती हैं—प्रकृति-पुरुष के उस अनोखे सम्मिलन पर नारदमुनि एकत्र हुए देवगणों को एक ऐसी दिलकश तान सुनाते हैं जो धरती, अंबर को वेध धोनाओं को अनिर्वचनीय आनन्द में सराबोर कर देती है और तब शिव-गंगा, देव-दानव, गन्धर्व-किन्नर सभी सगीत की पीर में झूम पड़ते हैं। ४४ वें अध्याय में राग और रागिनियों का मार्मिक विश्लेषण किया गया है—इन्हें सुन कर विष्णु का अन्तरात्मा दैवी रस में फूट पड़ता है और जगती का कण-कण उस रस में सराबोर हो जाता और उसमें इतना और ऐसा रस भर जाता है कि अब आप किसी भी बिन्दु पर अपनी कविता की चोट मारिये उसी बिन्दु से आपके सम्मुख पावन वैष्णव रस का स्रोत फूट निकलेगा। यह वैष्णव रस जगती के नाना जन-जनपदों में, उपवनों-आरामों में, खेतों और खलिहानों में वन की डाली-डाली में और घर की वाली-वाली में समान रूप से भर गया। ब्रह्मा ने लालायित होकर इस पावन रस को अपने कमण्डलु में भर लिया जिसमें कि गंगा जी पहले ही विद्यमान थीं। अब गंगा की बूँद-बूँद में यह दैवी रस समा गया और उनके तट पर लगीं प्रवाहित होने शाश्वत साहित्य की विशद धाराएँ, जिनसे भारत का कण-कण कूक उठा। वैष्णव रस को पुराणों ने वासुदेव कह कर पुकारा है—गोपियों के साथ उन्होंने इसी वैष्णव रस का रास रचाया है। वासुदेव का ही दूसरा नाम पुराणों ने स्कन्द बताया है जिनकी उत्पत्ति शिव जी के वीर्य से अग्नि के द्वारा गंगा में हुई थी। इस प्रकार आप देखते हैं कि किस प्रकार संगीत, साहित्य, वैष्णव रस, वासुदेव-गोपी-रास, वासुदेव-कुमार एवं शिव तथा गंगा साहित्य के एक तन्तु द्वारा आपस में मिल कर एक हो गए हैं—इन सब की एकता में ही यथार्थ रस का प्रादुर्भाव होता है—इस प्रादुर्भाव का सर्वोत्तम साधन एवं माध्यम यथार्थ साहित्य है।

हमारे वेद भी यथार्थ साहित्य हैं—किन्तु उनके साहित्य रस पर आध्यात्मिकता की पपड़ी जम गई है—देवपूजा की चादर ने उनके रस को ढक लिया है। साथ ही धर्म की भावना उनमें बलवती है—जिसके परदे में उनका साहित्यिक पहलू कुछ दब सा गया



है। किंतु वेदों की यह कमी हमारे हृदय काव्य में पूरी हो गई है और लक्षण शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि ने रस की चर्चा नाटक का रस लेने वाले दर्शकों के हृदय में अभिनय की दस्तक उद्बुद्ध होने वाले आह्लाद के रूप में विस्तार के साथ की है।

वैदिक युग में अभिनय का अभीष्ट प्रचार था और वहाँ चलने वाले प्रलम्ब सव्यों के मध्य मनोविनोदार्थ अभिनय रचे जाया करते थे जिनमें कि वेद में आने वाले आख्यानसूक्त वार्तालाप का काम दिया करते थे। स्वस्थ समाज में मनोविनोद का साधन मुग्धतया अभिनय हुआ करता है—रस अभिनय का वैदिक युग में पूरा चलन था। भरतमुनि ने अभिनय प्रक्षकों के हृदय में प्रवाहित होने वाले साहित्यिक रस का निरूपण करके अभिनय की प्राचीनता पर अच्छा संकेत किया है।

झने झने भारतीय आयों का उल्लाम मन्द पड़ता गया और उनका अभिनय पीका पड़ने के साथ साथ कम भी होना गया, यहाँ तक कि एक युग ऐसा आया जब कि अभिनय राजाओं के दरबार की चारदीवारी में सीमित हो गया। अब हृदयकाव्य के स्थान पर ध्वज काव्य का महत्त्व उभरा और लाक्षणिकों ने अब उसी के द्वारा होने वाली रसनिष्पत्ति पर बल देना आरम्भ कर दिया।

भरत ने रस की साहित्य का हृदय मानते हुए अलङ्कारों को उसके प्ररोचक के रूप में माना है। मामद ने अपने काव्यालङ्कार में 'शब्दार्थयुगल' को काव्य बनाकर भरतप्रतिपादित दम गुणों का भोज, माधुर्य तथा प्रमाद इन तीन गुणों में समावेश करते हुए वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कारों का मूल बनाया और दस प्रकार के दोषों का विशद विवेचन किया है। मामद की विवेचना में रस कुछ गौण बन गया है और अलङ्कारों की प्रधानता मिल गई है—जो कि उनके बाद सातवीं सदी में होने वाले आचार्य दण्डी की रचना काव्यादर्श में अधुण बनी रही है। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, भेद, वैदमी तथा गौड़ी रीति, एवं दस गुणों का वर्णन किया है, दूसरे परिच्छेद में अलङ्कारों के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं, तीसरे में शब्दालङ्कारों का विशद वर्णन किया है और चौथे में दस दोषों के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं। उन्होंने अपनी रचना में पहली बार रीति पर प्रकाश डाला है।

वामन ने रस रीति ही को काव्य का आत्मा बताते हुए शमे चमकाने वाले अलङ्कारों का अपने काव्यालङ्कारसूत्र में मामिम निरूपण किया है। उन्होंने वैदमी, गौड़ी, एवं पांचाली ये तीन रीतियाँ मानी हैं, वक्रोक्ति का अच्छा विवेचन किया है, और समस्त अलङ्कारों को उपमा का प्रदत्त माना है।

वामन के समकालीन आचार्य उद्भट ने अलङ्कारशास्त्र का समर्थन करते हुए अपने काव्यालङ्कारमार्मप्रह नामक ग्रंथ में ४१ अलङ्कारों का मप्रदत्त निरूपण दिया है जिमकी रट्ट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में विशद प्ररोचना की है।

इन आचार्यों के बाद आचार्य आनन्दवर्धन आते हैं। इन्होंने अपने ध्वन्यालोक में ध्वनि को काव्य का आत्मा बताते हुए उसी की विधाओं का मार्मिक विश्लेषण किया एवं आचार्यों का रख अलङ्कारशास्त्र से मोड़ कर ध्वनितत्त्व की ओर आकृष्ट किया है। इनके ध्वन्यालोक पर आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन नाम की मार्मिक टीका लिखी और अपनी अनूठी रचना अभिनवभारती के द्वारा भरत के नाट्यशास्त्र की ओर आचार्यों का ध्यान आकृष्ट किया।

कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवित में काव्य का आधार वक्रोक्ति को सिद्ध किया जब कि महिममट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनि को अनुमान का ही एकरूप स्थापित किया। आचार्य धनञ्जय ने अपने दशरूपक के द्वारा नाट्य की ओर जनता का ध्यान फिर से आकृष्ट किया।

भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में एवं शृङ्गारप्रकाश में शृङ्गार को ही सब रसों का मूल बताते हुए रस की मार्मिक विवेचना को और अलंकार एवं गुण-दोषों को सहायक के रूप में उपस्थित किया।

आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश ध्वनिवाद के समर्थन में अनूठा उपकरण बनकर काव्यशास्त्र में अवतीर्ण हुआ, जब कि प्रख्यात आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचारचर्चा में औचित्य ही को काव्य का आधार बताया है। रूयक ने १२ वीं सदी में अलङ्कारसर्वस्व लिखकर अलङ्कारों पर फिर से जोर दिया; हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में यही प्रवृत्ति अनुप्राणित हुई। १४ सदी में कविराज विश्वनाथ ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण लिखा और उसमें काव्य का लक्षण 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्' बताकर रस की फिर से पुष्टि की। पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगङ्गाधर में इसी रस का अन्तिम परिपाक किया।

यह हुआ संस्कृत काव्यशास्त्र का छोटा सा सिंहावलोकन। भरत के साथ इसका प्रारम्भ रस में हुआ है और पंडितराज जगन्नाथ की रचना रसगङ्गाधर के साथ इसका पर्यवसान भी रस में हुआ है। जगन्नाथ ने अपनी रचना का नाम 'रसगङ्गाधर' रख कर साहित्यिक रस के आधारभूत वैष्णव रस की ओर मार्मिक संकेत किया है जो कि 'रसगङ्गा' इस समस्त पद से व्यक्त है। प्रस्तुत चम्पू के निर्माता सूर्य देवश को रसमार्ग ही मान्य था और उन्होंने अपने चम्पू में इसी वैष्णव रस की अनेक विधाओं का अनूठा स्थापन किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला रस आह्लाद-रूप है और वह परम वैष्णव रस का ही स्थूलरूप है। परम वैष्णवरस—और उसके द्वारा साहित्यिक रस समानरूप से कण कण में विद्यमान है—साहित्य इसी की प्रोचना करता और श्रोता एवं दर्शक के हृदय में इसी रस का उन्नयन करता है।

किन्तु इस रस की व्यापकता ही इस रस पर आश्रित हुए साहित्य के लक्ष्मणों का दोष है, क्योंकि ठीक इसी रस की उत्थानिका संगीत को सुनकर, पटकने चित्र को देख कर एवं दुःसन्दर्भ एवं हर्षोल्लास की बीचियों में उभरने वाली मूर्ति को देख कर दर्शक के हृदय में हो जाती है। साहित्य के आत्मा रस को इसी दृष्टि से बाद के आचार्यों ने साहित्य का आत्मा बना कर साहित्य को ललित कलाओं की परिधि में पृथक् करने के लिए उसके लक्ष्मणों में कभी वक्रोक्ति पर, कभी अनुमान पर और कभी ध्वनि पर बल दिया है— जो कि सब के सब समान रूप से अन्य ललित कलाओं में न मिल कर एक मात्र रस-रत्ना साहित्य में उपलब्ध होते हैं। और इस प्रकार जब कि भरत ने साहित्य के आत्मा रस को साहित्यिक जनता के सम्मुख रखा था वहाँ बाद के आचार्यों ने साहित्य के शब्द रूप का आर्थिक विस्तार करके उस अन्य ललित कलाओं से पृथक् करन हुए उसका रूप सुस्थिर एवं अविन्यासि दोष से बरी कर दिया है। हमारे साहित्यदर्शन के क्रमिक विकास की रूपरेखा कुछ इस प्रकार की है—इसे हृदयगम्य करके लक्ष्मणशास्त्र का अध्ययन करने पर उसमें एक अनूठी व्यापकता उभर आती है जो कि हमें लक्ष्मणशास्त्र के आज तक के अध्ययनों में नहीं दीख पड़ती।

## काव्यशास्त्र का मूल और स्वरूप

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १७७ वे सूक्त का दूसरा मंत्र वाणी के उद्गम की तान अवस्थाओं पर मार्मिक प्रकाश डालता है —

पतङ्गो वाच मनसा विमर्ति ता गन्धर्वोऽवहद् गर्भे अन्त ।

तां धोद्वनानां स्वय मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पानि ॥

मंत्र सूर्यपरक है, किन्तु अनायास ही यह कवि की आविष्ट वाणी पर पड़ जाता है। वाणी का उद्गम संश्लेष में इस प्रकार है —प्रतिमा की अग्नि में तपकर कवि पतङ्ग अर्थात् सूर्य का रूप धारण कर लेता है और अपने दैवी आवेश के द्वारा वह जगता के कण कण में नव जीवन फूँक देता है। प्रतिमाविद्युत् का बटन टबन ही उसके अन्तर्म में वाणी के अङ्कुर पूर निकलने हैं। वाणी की यह अवस्था परा कशती है। प्रतिमान की दूसरी स्टेज पर कवि गन्धर्व अर्थात् गौरूप वाणी को धारण करने वाला बन जाता है और इस स्थिति में उसकी वाणी बर्णों में व्याप्त होने के लिए आग बढ़ती है, उसकी यही अवस्था मध्यमा है। प्रतिमा की तृतीय अवस्था में पहुँच कर कवि की वाणी सबागपूर्ण बन कर वर्ण-पद-वाक्य में विस्तार आती है और अपनी लहरियों में वह सगर को सरमिन् करने वाले 'ऋत' को तरङ्गित कर देती है। इस ऋतरूप रस को विश्व में प्रकाशित करना और जगती के कण कण को उसमें सराबोर कर देना ही मन्त्र के कलाकार की वाणी का परम उद्देश्य है। वाणी की इसी अवस्था को हम वैखरी मन्त्रा देते हैं।

मंत्र का पहला शब्द 'पतङ्ग' कवि के अंतस् में उद्गोष होकर जलने वाली प्रतिभाग्नि के व्यापार को उपलक्षित करता है। इस दैवी अग्नि के जल उठने पर कवि की भौतिकता उसमें मस्म हो जाती है और नितरां सूक्ष्म रह जाने के कारण कवि जीवन के आदिस्त्रोत 'रहस्' तत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है। रहस् के साथ तदात्म होते ही कवि उसके तेज से आविष्ट होकर पतङ्ग (सूर्य) की न्याईं दमकने लगता है और उसकी गति चराचर में उसी प्रकार निर्वाध हो जाती है जैसे कि स्वयं सूर्य भगवान् को। दैवी आवेश का स्नेहभरा धक्का कवि को रमसा रवि रूप में बदल देता है और अब वह अनायास ही उस विश्वसंगीत को तान छेड़ देता है जिसके कारण सूर्य भगवान् का नाम रवि अर्थात् 'शब्द उत्पन्न करने वाला' पड़ा है। रवि शब्द की व्युत्पत्ति १ धातु से है, जिसका अर्थ 'शब्द करना' है। वेदों के अनुसार भुवनभास्कर 'रवि' वेदत्रयी के जन्मदाता हैं; इडा, सरस्वती और भारती के वे आदिस्त्रोत हैं; और अव्यक्त को व्यक्त रूप देनेवाले स्फोट के वे परम निधान हैं। हमारे पुराणों ने 'रवि' के लयवाही रूप की बार-बार प्रशंसा की है और विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, दत्ति, शैक्सपीयर एवं गेटे आदि ने कवि को विश्वसंगीत का जन्मदाता कहकर उसकी आरती उतारी है।

रवि-रूप कवि अपनी रमः-प्रसूत वाणी की द्वितीय अवस्था में गन्धर्व का रूप धारण कर लेता है और तब उसकी वाणी वर्णपदादि में व्याकृत होने के लिए अग्रसर होती है। तीसरी दशा में पूर्ण रूप से व्याकृत होकर जब उसकी कूक प्रस्फुटित होती है तब वह अनायास ही विश्व को चलाने वाले ऋत की रागात्मक व्याख्या में व्याकृत हो जाती है।

कवि वाणी की इस प्रक्रिया में अथर्ववेद का ४,३३ वां मंत्र एक नई छदा ला देता है—  
अपूर्वेणेषिता वाचस्तता वदन्ति यथायथम्।

वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्रह्मिणं महत्॥

अर्थात् अपूर्व (प्रतिभातत्त्व) के द्वारा प्रेरित हुई कविवाणी जगत् के रहस्यमय रूप को अनावृत करने में समर्थ होती है। वस्तु-तत्त्व के अनावरण में व्याकृत हुई कवि-वाणी का जहाँ पर्यवसान होता है महत् ब्रह्म वही है। कवि की रचना का परम लक्ष्य यह महत् ब्रह्म ही है। मंत्र की पदावलि से स्पष्ट है कि विश्व के रहस्य को वही वाणी व्यक्त कर सकती है जो प्रतिभा के तेज से चमत्कृत हो और जिस में दैवी तवस्त्वेरा बस गई हो।

कविता के उद्गम एवं उसके लक्ष्य का निर्देश करते हुए ऋग्वेद का १. १६४,४९वां मंत्र सरस्वती से निम्नलिखित प्रार्थना करता है:—

यस्ते त्तनः शशयो यो मयोभूर् येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।

यो रत्नधा वसुविद् य सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥

अर्थात् हे वाणी ! तুম मुझे अपना वह शिव एवं सौख्यमय, भरपूर स्तन पीने को दो जो अशेष वरणीय पदार्थों का पोषण करनेवाला है, जो रत्नों का दाता, शोभन पदार्थों का प्रापयिता एवं अनायाम ही सब कुछ देने वाला है । निःसन्देह वैदिक ऋषियों के अनुसार सरस्वती रसमयी है, और हमारे वेद ने रमसारो सरस्वती में लोकोत्तर निद्रा एवं प्रसाद उत्पन्न करने वाले स्तन्य की प्रार्थना करके काव्य के आत्मभूत रस की ओर संकेत किया है जिसका आस्वादन करके कलाकार तो अमर हो ही जाता है, पर माय ही वह श्रोता एवं प्रेक्षक को भी ब्रह्मानन्द में सराबोर कर देता है ।

उक्त मन्त्र से स्पष्ट है कि लयसारी वाणी का आत्मा 'रस' है और इसी के उज्जृम्भ से रससिद्ध कलाकार अपने आप को धन्य करते आए हैं । कवि के आत्मरूप 'रस' का वाक्याचार्यों ने सुन्दर विवेचन किया है ।

ऋग्वेद का ८ १००. १० वां और ११ वां मन्त्र वाणी के आत्मरूप पयोःरस की ओर फिर से संकेत करता है —

यद् वाग् वदन्त्यविवेचनानि राष्ट्री देवाना निषसाद मन्द्रा ।

चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्या\* परम जगाम ॥

देवी वाचमजनयन्त देवास्ता विद्वरूपाः पशवो वदन्ति ।

सा नो मन्त्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वाग्मानुष सुष्ठुनेतु ॥

दोनों मन्त्रों में लयवाही वाणी की धेनु नाम से पुकारा गया है और दोनों ही मन्त्रों में इसे मन्द्रा अर्थात् प्रसादक कह कर उसके पयोःरस की लोकोत्तरता को व्यक्त किया गया है । लयसारी वाणी के आत्मरूप 'रस' की मन्दता एवं प्रसादकता को वेद ने तरह-तरह से गाया है और ऐसी सरस्वती के स्तन को शशयु (= शयु\* शी स्वप्ने), शिव (= शी स्वप्ने), अथवा मौलिक चित्स्थिति में पहुँचाने वाला बना कर उस के रसास्वाद में ही वाणी का पर्यवसान माना है । आविष्ट वाणी के आत्मरूप रस को दण्डी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

मधुर रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थित\* ।

येन माधन्ति धीमन्नो मधुनेव मधुमता\* ॥ १ ॥

अर्थात् मधुर रस वाणी और अर्थ दोनों में ही सखलित रूप से निवास करता है— क्योंकि ये दोनों तत्त्व मौलिक रूप से परस्पर अभिन्न हैं । इस रस को पीकर मनीषी लोग मौलिक जगत् से ऊपर उठ उसके मूल में पहुँच जाते और वहाँ जाकर अमर हो जाते हैं ।

ऋग्वेद का ९ ७८ का पहला मन्त्र गौरस की गरिमा पर फिर से संकेत करता है:—

प्र राजा वाच जनपत्रसिन्धुदत्त भवो वमानो अभि गा इदधुनि ॥

अर्थात् प्रतिभा के आवेश में चमाचमाता (पतंग) कवि लयसारी स्वर में फूट निकलता है, और तब वह लोकोत्तर क्रियाशीलता को धारण कर के इस वाणी की सेवा में जुट जाता है। कह सकते हैं कि प्रतिभा की अग्नि में गल कर बहने वाला कवि का आत्मा ही वाणी के रूप में फूट निकलता है। आविष्ट रचना के इसी रहस्य को आनन्दवर्धन ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—

वाक्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।

कौचिद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

अर्थात् आविष्ट आत्मा की निमृत् पीर ही किसी दृश्य को देख कर जब पक निकलती है तब कविता का उदय होता है। उस दैवी पीर में पियराया कवि अपने आप को भूल जाता, तब वह किसी लोकोत्तर संविधान में जा पहुँचता, और तब जगती के मूलरस के साथ एक होकर बहने वाला उसका आत्मा ही वाणी के माध्यम से वर्णों में बिखरते लगता है। उसकी यह फूट नितांत स्वाभाविक एवं ऋजु होती है और इसीलिये यह अलंकारों की फुलझाड़ी में उघड़ती चलती है—क्योंकि आविष्ट कलाकार के अपने ही प्रदीप्त गुण प्रतिभा की सर्चलाइट में झिलमिल उठते और अलंकार बन कर उसके प्रयत्न बिना ही, उसकी रचना में सजने लगते हैं। और जब प्रतिभा-विद्युत् का धक्का लगने पर कवि सामने पड़े विश्व की ओर अग्रसर होता है तब वह उसके कण-कण में अलंकारों का मन्त्र फूँकता चलता है और साथ ही अपनी रचना पर भी अलंकारों के पन्ने जड़ता जाता है। वैदिक रचना के अलंकारों का मूल रचना की इसी प्रक्रिया में संनिहित है।

आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' के साथ-साथ वेद ने वाणी के रमणात्मक पक्ष पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। ऋग्वेद का ३. ५५ का ७वां मन्त्र यों है:—

प्र रण्यानि रण्यवान्चो भरन्ते ।

अर्थात् रुचिर वाणी वाले ऋत्विक् अथवा कवि रमणीय वस्तु प्रस्तुत करते हैं। और यह बात है भी स्वाभाविक ही—क्योंकि यदि रचना के मूलस्रोत कवि-हृदय में मधु का प्रवाह है तो उसमें से उघड़ने वाले लयसारी वर्णों का भी मधु में सना होना स्वाभाविक है; और मधुसिक्त वाणी वाले भावुकों से मधुसारी रचना ही की आशा की जा सकती है।

काव्यशास्त्रियों के अनुसार रमणीय वाणी का ही दूसरा नाम काव्य है—और यथार्थ काव्य के निर्माता अपनी रचना के माध्यम से अनायास ही विश्व में लावण्यतन्तु फैलाने वाले रमणतत्त्व के साथ तदाकार हो जाते हैं। इसी बात को हम साहित्यिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं:—

‘रमणीयार्थप्रतिपादक इन्द्र. काव्यम्’ ।

‘वाग्य दशमेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेनरक्षतये ।

सद्य परनिर्वृतये क्षान्तासमिननयोपदेशयुजे ॥’

बान टोक है—भीठे बोल से क्या नहीं मिल जाता ? फिर यदि कवि-रचना में निष्ठाम मर गया तो उसके लिये कौन सी वस्तु दुःप्राप्य रह जाती है ? यह सब कुछ है, किंतु काव्याचार्यों ने वाणी के इसी एक तत्त्व को काव्य का सर्वस्व मान कर उसी में कविता का पर्यवसान कर दिया । सुकरान ने प्रेम की विवेचना करते हुए ‘रमणीयता’ के माध्यम से उसका ‘शाश्वत सौंदर्य तत्त्व’ में पर्यवसान किया है और नि मन्देह पारवैधी कवि-रचना का यथार्थ लक्ष्य भी यह सौंदर्य तत्त्व है ।

ऋग्वेद के ९ ७३ वा ७वां मन्त्र वाणी के अलंकरण की अनन्त शक्ति का स्तोत्र बताना है —

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाच पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।

रक्षाम वषामिधिरामो अटुहः स्पशः स्वचः सुदृशी नृचक्षसः ॥

मन्त्र सोमपरक है, किंतु कवि रचना पर भी यह सहज हा घट जाता है, क्योंकि पारवैधी कलाकार सहस्र कुल्याओं में प्रवाहित होने वाले पावन, सर्वमारी, सोम का गुणगान करके अपनी वाणी को परिपूत करते और उसे नवोद्गा वधू की न्याईं मति-मानि के अलंकारों से चमत्कृत करते हैं । अलंकृत वाणी वाले कवियों की मधुवाही गोनिया विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत् के चितेरे, शोभनगामी रश्मिदेव की भी अपने वश में कर लेती हैं ।

ससार को रूपा देने वाले देवताओं को भी अपने निष्ठाम से मोह लेने वाली कवि-रचना का सुन्दर निरूपण है—क्योंकि पहुँची हुई कविता है ही वह जो सूर्य मण्डान के समान जगती के कण कण पर छा जाती हो और जिसके पद पद से प्रतिमा की किरणें फूँट पड़ती हों । ऐसी ही पारवैधी आविष्ट कूक यथार्थ कविता कहा सकती है और ऐसी ही वाणी पवित्र एवं चमत्कृत होने के कारण गायक, श्रोता एवं प्रेक्षक के अन्तरात्मा को आवर्जित करने में सक्षम होती है । विद्वत् के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, होमर, वाल्जिलाम, दांति, शेक्सपीयर एवं गेटे की रचनाएँ इसी क्रेटि की हैं ।

ऋग्वेद के १० ७२ के दूसरे मन्त्र में वाणी के सस्कार पर बल दिया गया है—

सक्तुमिव नित्रउना पुनन्तो मत्र धीरा मनसा वाचमम्रन् ।

अत्रा मग्नायः सत्यानि जानने मद्रेषा सध्मीनिहिनाधि वाचि ॥

अर्थात् जब बुद्धिमान् कवि, जिस प्रकार रथज से अन्न छटा जाता है उस प्रकार अपने मन से वाणी को परिपूत करके उसे रम्य पदवलि के रूप में सजाते हैं, तब विश्व

का प्रसादक लक्ष्मी। इन मांग उनकी रचना में आ विराजती है। भद्र वाणी वाले गायक का चराचर जगत् के साथ सहज ही रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता और ऐसा ही कलाकार अपनी आविष्ट लय के द्वारा विश्व के अन्तस्तल को निनादित करने में समर्थ होता है।

पवित्रता एवं अलङ्करण के परम स्रोत शाश्वत तत्त्व को मुखरित करने के लिये वाणी का पवित्र एवं मनोहर होना परमावश्यक है। इसी कारण हमारे वैयाकरणों एवं साहित्य-शास्त्रियों ने वाणी के संस्कार पर इतना अधिक और इतनी बार बल दिया है। वेद तो स्थान-स्थान पर 'धुमती' वाणी के लिये प्रार्थना करता है। उदाहरण के लिये देखिये:—

दधामि ते धुमतीं वाचमासन् । ऋ. वे. १०. ९८. ३

अस्मे धेहि धुमतीं वाचमासन् बृहस्पते अनमीवामिपिरान् ।

यथा वृष्टिं शंतनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश ॥ १०. ९८. ३

अर्थात् तेरे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करता हूँ। हे भगवन् ! हमारे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करो। ओ बृहस्पति ! ऐसी वाणी का, जो आधि-व्याधियों से परे हो, जो जगती के कण-कण में कंपन बहा देती हो, जिसकी स्वर-लहरियों से हम शन्तनु के लिये आकाश से बादल बरसा दें। उस प्रकाशमय सोम का मधुमय बिंदु मेरी जिह्वा पर आ विराजा है, मेरा रोम-रोम सोम के मादक रस से भिन्ना उठा है।

अथर्ववेद ६.६९ के द्वितीय मन्त्र ने धुमती के स्थान पर भर्गस्वती शब्द का प्रयोग किया है—

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्गुं शुमस्पती ।

यथा भर्गस्वतीं वाचन् आ वदानि जनां अनु ॥

ओ अश्विन् देवताओ ! ओ सुन्दरता के स्वाभियो ! मेरे रोम-रोम में मधु भर दो, जिससे मैं जनता के प्रति भ्राजस्वती वाणी का प्रयोग कर सकूँ।

निश्चय ही इन मन्त्रों के द्वारा वाणी में मधु एवं अलङ्करण उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है—क्योंकि वेद के अनुसार आविष्ट वाणी में रस एवं अलङ्करण दोनों ही उचित मात्रा में होने वांछनीय हैं।

वाणी के उक्त अलङ्करण से आगे बढ़ कर दूसरी स्टेज भरत मुनि द्वारा संकेतिन एवं अग्निपुराणद्वारा प्रपञ्चित अलङ्कारशास्त्र है। अलङ्कारों के विषय में दण्डी ने यों कहा है:—

कान्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ॥



वेद ने वाणी में चमत्कार डालने वाले अलंकारों का निराला प्रयोग किया है, और उपमाएँ तो जैसी वेद ने डुंदा है वैसी अन्यत्र देखने को मिलती ही नहीं। प्रतीय होता है कि वैदिक कूक को सुनकर स्वयं उपमात्कार मूर्तिमान् हो उठ बैठा हो। उदाहरण के लिये पढ़िये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६६वें सूक्त को—यहां आपको एक से एक बट कर उपमा लपटती दीम पड़ेगी। सूत सूत में जुआरियों के क्षण में ऊंचा और क्षण में नीचा दिखाने वाले पासों को 'कुमारदेष्ण' अर्थात् बच्चों की तरह झट देने और पट छीनने वाले बना कर तो वेद ने उपमा की पराकाष्ठा ही कर दा है। 'शीता सन्तो हृदय निर्दहन्ति' में विरोधामास की छटा देखते ही बनती है। बट के किसी भी सूक्त को पढ़ जाइये—उसमें, आपको कोई न कोई अलंकार अपने स्वरूप में निभृत बैठा टार्च की न्याय रचना के शब्द और अर्थ दोनों को भासित करता दीम पड़ेगा। न केवल शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार, अपितु दोनों सकलित रूप में वैदिक रचना को एक निराले धरातल पर उठाते दीम पड़ेंगे—और वह भी अपने स्वारसिक रूप में, प्रशान्त किंतु मुग्रा दृग्गामी, अनजाने ही रचना की कूक-कूक में छिपे बैठे, स्वयं अनदेखे किंतु जगती के कण-कण को सित्ता देने वाले हैं।

वेदों के अलंकारविन्यास से मुग्ध होकर वाग्धातव्यों ने वाच्य का सर्वस्व ही अलंकारों को मानना आरम्भ कर दिया और उन्हीं के भेदोपभेदों की मीमांसा में उन्होंने वाच्य-समीक्षा की इति कर दी।

अथर्ववेद का १० ४ इत्वा मन्त्र रहस्यवाद का आदिम संकेत है। मन्त्र यों है —

अन्ति सन्न न जहात्यन्ति सन्न न पश्यति ।

देवस्य पश्य सान्य न ममार न जीर्यति ॥

यह कवि रचना की लोकलोकता का अनुठा निदर्शन है। प्रतिभा विष्णु की क्षमाश्रम में आवर ऊपर उठा कलावार सामने पैनी जगती को छोड़ता भी नहीं और वह उसे देखना भा नहीं है। प्रतिभा के ताप में पिघल कर कवि का आत्मा तरल बन जाता, तब वह सामने के विद्व की प्रतिभाग्नि में गला कर उसके स्थान पर एक नवीन छाया-जगत् का निर्माण करता और परमनस्व के निहशरीर के रूप में उसका रस पिया करता है। देवी उन्मेष का रहस्य कवि की रस खोने में पाने वाली महाशक्ति में सन्निहित है। रस पारवधी इष्टि से न्यून गए अर्थ प्रसून और उन्हें शकृत करने वाली कविकृत मचमुच अमर होती है—न वह कभी जीने ही होती और न वह कभी नष्ट हो जाती है। क्योंकि अब उसमें निम्नलिखित परम सत्य का पूरी तरह प्रतिबिम्ब हो गया है कि —

अमरता है जीवन का हास ।

मृत्यु जीवन का चरम विकस । ( 'पाना' ४८ )

और अब वह परिवर्तन के पार शून्य के उस पुलिन पर जा लगी है जहाँ कि सब प्रकार का आदिसूत्र एक गोली के रूप में सिमटा पड़ा रहता है। इस आदिम सूत्र को प्रत्यक्ष करते ही कवि-पदावली की-तर्ज बदल जाती और उसका विषय यह स्थूल जगत् न रह कर उसके उर में ज्वार लेने वाला 'कनकरस' बन जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कविरचना का लक्ष्य कवि के सम्मुख फैला हुआ भौतिक जगत् नहीं, अपितु उसके अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला लावण्य परिपूर्ण छाया-जगत् है और उसी का समुचित उत्थापन कवि की आविष्ट रचना का प्रमुख लक्ष्य है।

यह तो हुई स्फोट के उस पक्ष की बात, जिसके अनुसार कि इस शब्द का अर्थ नाद के माध्यम से व्यक्त होने वाला पदार्थजात है, जो कि अपने तरल रूप में कविरचना से ध्वनित होता है। अब लीजिए स्फोट शब्द के उस पक्ष को जिसके अनुसार कि पदार्थजात को व्यक्त करने वाला नाद इसका अर्थ है; इस पक्ष में भी कविता का असली रूप कवि की व्यक्त पदावली नहीं, अपितु इस पदावली के माध्यम से ध्वनित होनेवाली वह मूलभूत परम ध्वनि है, जिसकी झंकृति-मात्र से मूल अव्यक्त चराचर जगत् के वर्तमान रूप में बदल जाता है। उसी आदिम नाद की रचना-कारिणी शक्ति कवि-पदावलि में अवतीर्ण होकर उसे नव-नव छाया-जगत् रचने की शक्ति प्रदान करती है और उसमें वह तबस्त्वरा ला देती है जो कि परमात्मा की अपनी रचना में दृष्टिगत होती है।

समग्र वेद को ध्यान से पढ़ जाइये, उसके पद-गद के पीछे आपको एक निराला सोमिल जगत् उभरता दीख पड़ेगा, एक अनोखी दुनिया दूर से झनझनाती लुन पड़ेगी, जिसका कविरचना की स्फुट पदावलि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु जो कविकूक के तरङ्गित होते ही रमसा श्रोता एवं प्रेक्षक के संमुख आ खड़ी होती है। और यह बात इसलिए है कि वैदिक कवि ने विश्व के भूतजात को अनुप्राणित करनेवाले चरम सूत्र को आत्मसात् कर लिया है और उसके द्वारा बिन्दु में समुद्र को और समुद्र में बिन्दु को एकाकार देख लिया है। तभी तो अथर्ववेद के १०. ८ ३७-३८ में यों कहा है:—

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्प्रोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्प्रोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

चराचर में रमे परब्रह्म को वही जानता है जिसने इस विश्वव्यापी सूत्र को देख लिया है, जिसमें जगती के जन्मजात बुने पड़े हैं और जिसने इसमें जान डालनेवाले उस परम सूत्र को साक्षात् कर लिया है जिसके विषय में महादेवी वर्मा ने निम्नलिखित पंक्तियाँ गाई हैं:—

‘एक तरफ अगणित कथन का एक सूत्र सबके बन्धन का ।

आदि में छिप जाना अवसान अन्त में बनता नव्य विधान ।

सूत्र ही है क्या यह ससार गुथे जिसमें सुख दुःख जय-हार ।’

वैदिक कवि कहता है कि मैंने उस सूत्र को देख लिया है जिसमें अशेष जन जनपद जड़ पड़े हैं, और मैंने इस विस्तृत सूत्रजाल को अनुप्राणित करनेवाले चरम सूत्र को भी देख लिया है । तभी तो मैं कहता हूँ कि मैंने परमेश का माहात्म्य कर लिया है ।

यथार्थ कवि रचना की इसी व्यापक गहनता को शेक्सपियर ने अपने ‘मिथ समर नाइट्स टीम’ में यों व्यक्त किया है —

The poet's eye in a fine frenzy rolling,  
Doth glance from heaven to earth  
from earth to heaven.

And, as imagination bodies forth  
The forms of things unknown, the Smoet's pen  
Turns them to shapes, and gives to airy  
nothing

A local habitation and a name ( Act 5 1<sup>st</sup> 20 )

काव्यप्रक्रिया का इससे अधिक मार्मिक एवं यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता क्योंकि शेक्सपियर कविता-कामिनी के सभी रमियाये और उनही चुन्की-चुन्की में चराचर का आसो-बूझ केन्द्रित रहा करता था । भारतीय आचार्यों का यह कथन—

अपारे काव्यममारे कविरेक प्रजापति ।

यथारमे रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥

तो शेक्सपियर के प्रत्यक्ष दर्शन का आभासमात्र है ।

हां, तो ऐसा निराला होता है तावपान में बीराया हुआ एक बन्धनार, जिसकी पदावलि कदनी तो कुछ है किंतु आशय जिसका कुछ और ही हुआ करता है । उसकी माया उस लोकालोक पर्वत सी बन जाती है जिस पर आलोक और अन्धकार साध-माध फैले होते हैं और जहाँ का धरातल कुछ कल्पित-मा, कुछ महमरीचियों में उषदल निषण्ण-मा एक साथ सदसद्रूप हुआ करना है ।

वेद की समग्र रचना कवित्व की उस पारवधी शक्ति से उद्भासित है । इसे पढ़कर पाठक के सम्मुख एक ऐसा मन्दिर जगत् उघटना है जो भौतिक होने पर भी सुगम भूतानीय है, और जो इसीलिए सचमुच सुन्दर, शिव एक परम साय है ।

कविता के ध्वन्य अर्थ को लेकर काव्याचार्यों ने उसी की मीमांसा में अपनी तर्क-शक्ति की इति कर दी, और कवित्व के उस पक्ष की रुचिरता से कांदिशीक हो वे उसके अन्य पक्षों को मुला बैठे ।

सुकरात ने प्रेम का विवेचन करते हुए मध्यमार्ग की मनोरम उत्थानिका बाँधी है, जो ग्रीक सफलता की आधारशिला थी और जिसकी ओर श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में और भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक उपदेशों में मार्मिक संकेत किए हैं । सौन्दर्य का मर्म रचना की इसी मध्यमार्गी समझसत्ता में है और यथार्थ सत्य पराकोटियों के मध्य विराजने वाले इसी माध्यमिक समता बिन्दु पर टिका हुआ है । जीवन की सुस्थता एवं आर्जव इसी में हैं और सुस्थता एवं ऋजुता ही सौन्दर्य के अपने प्राण हैं ।

ऋग्वेद के नवम म. के १.९५ सूक्त का दूसरा मन्त्र काव्य के रीति मार्ग पर सुन्दर प्रकाश डालता है :—

हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयति वाचमरितेव नावन् ।

देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ॥

मन्त्र मर्मस्पर्शी है । इसमें रीतिमार्ग के सभी घटकों की ओर संकेत आ जाता है । रचना करने वाला कवि-प्रजापति ऋत के मार्ग पर अग्रसर होने वाली स्वर-लहरी का सृजन करता है, ठीक उसी ध्यान एवं कौशल से, जिसके साथ कि एक नाविक नाव चलाया करता है । अपनी रचना के माध्यम से वह परम रहस्य के मर्म को छू लेता और रमसा उसे जगती के सम्मुख अनावृत कर देता है । कितनी मार्मिक एवं मनोरम व्याख्या है यह कवि-रचना के मर्म की और कितने रोचक ढंग से यह कविता के रीति-मार्ग का निदर्शन करती है ! क्योंकि संवादी रचना सचमुच है ही वह, जो ऋत के मार्ग पर चलती हुई विश्व के स्थायी संविधान का व्याख्यान करती हो और उसके द्वारा दैवी रहस्य का रागात्मक मुखरण करती हो—क्योंकि सचमुच ऋत के विश्वव्यापी सिंहास पर निनादित होकर ही रचना के अक्षर-अक्षर तत्त्व को व्याकृत करने में सफल हो पाते हैं । वेद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।

धीराश्रित् समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमवपदात्यग्रमुः ॥ ऋ. वे. ९. ७३. १

अर्थात् ऋत का दैवी तन्तु वरुण की गुप्त शक्ति द्वारा जिह्वा के अग्रभाग की चलनी पर टिका हुआ है । मेधावी कवि उस तक पहुँच कर उसे आत्मसात् कर लेते हैं; इसके विपरीत वे अल्पज्ञ जो इसे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, आजीवन नीचे ही पड़े रह जाते हैं ।

रहस्य से उद्भाषित हुए कवि रचना का कितना मार्मिक निदर्शन है ? विश्वभ्यां परमात्मा के प्रसाद में ही कवि की प्रतिमा जागती है और इसी के वर से उसकी वाणी ऋत के दुर्लभ तन्तु का विश्लेषण करने में समर्थ हो पाती है। मेधावी लोग प्रयत्न करके रहस्य के परम मूल को देख लते हैं और उसी की वेदना में वे अपनी वाणी का पर्यवमान किया करते हैं।

हा, तो वेद के अनुसार स्पष्ट है कि ऋत के मार्ग पर चम्ने वाली कवि रचना ही ऋतरूप सत्य के याग्यान में समर्थ हो पाती है—और कविरचना की यही सरांति वेद की वांछनीय रही है। किंतु काव्यशास्त्रियों ने अनिश्चय के पेर में पड़ कर वाणी की गति को ही रचना का सर्वस्व मानना आरंभ कर दिया। और इसके विश्लेषण में पंक्त के रचना के आत्मा-रस तक भूल बैठे। किंतु वेद स्पष्ट कहता है —

पुनानो धाचं जनयन्त सिध्यदत् । ऋ वे ९ । ०६ । १२

अर्थात् विश्व का प्रेरक वह परम मोम तत्त्व वाणी को अलंकृत करना हुआ रस रूप में बहा करता है। मंत्र के इस एक खण्ड में कविता के 'अलंकरण' एवं 'रस' ये दोनों घटक आ जाते हैं। और जब हम इस मंत्र-खण्ड को उपरिनिर्दिष्ट मंत्रों के साथ मिला कर पढ़ते हैं तब हमें काव्य के ध्वनि और राशि ये दोनों पक्ष भी हस्तगत हो जाते हैं। किंतु वेद ने सब जगह 'ऋतसारी' वाणी ही की सपर्या की है। यहाँ तक कि उमन वाणी का नाम ही सूनृता ( = सु + ऋता ) और ऋतमरा आदि रस दिया है। इस ऋत के अन्तर्धान में ही वैदिक ऋषि सचेष्ट रहते आए हैं। ऋग्वेद कहता है —

म सूर्यस्य रदिमभि परि व्यन ततु त्वानसिक्व यथा विदे ।

नय नृतस्य प्रशिवो नवीयसी पतिजनीनामुप याति निष्टनन् ॥ ऋ. वे ९ । ८६ । १२

पारवेधी कलाकार तत्त्वज्ञान के लिए सत्ता के परम तनु का आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक इन तीन रूपों में विश्लेषण करता हुआ प्रतिमा-सूय की विरणों से मिलमिला उठता है और तब ऋत की नव-नव प्रशस्तियों में फूटता हुआ वामाओं का वननीय वह परम तत्त्व को पा लेता है।

स्पष्ट शब्दों में यह मंत्र कवि के पारवेधी मृतीय नेत्र की ओर सवेन करना हुआ उसके सूर्यसम भाजमान रचना निवेश की गरिमा का वर्णन करता है और बताता है कि ऋत के रागात्मक व्याख्यान में ही कलाकार के रागात्मक जीवन की संपूर्णता सम्बिहित है।

निश्चय ही इन मंत्रों के अनुसार कवि-रचना का असल रहस्य ऋतरूप परम तत्त्व की रागात्मक व्याख्या करना है और उसी के चयन-कृत सुस्मरण में इन मंत्रों ने संपूर्ण कविता का पर्यवमान माना है। जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर उसी में रम जाने

वाले कलाकार को ऋत का दर्शन अलभ्य है—क्योंकि ऐसे कलाकार में विस्तार एवं संयम का विकास नहीं हो पाता और हमारे मंत्रद्रष्टाओं ने इन दोनों के उचित विकास को परिपूर्ण जीवन स्वीकार किया है। क्योंकि जीवन में यदि विस्तार का होना आवश्यक है तो उसी मात्रा में उसमें संकोच का होना भी वांछनीय है। मनोवृत्ति के इसी संयम को हम 'समाधि' कहते हैं। इसमें वैखरी चित्तवृत्ति का सम्यक् सन्निधान हो जाता है और इस समाहित चित्तवृत्ति के द्वारा ऋत का प्रत्यक्ष दर्शन संभव हो जाता है; क्योंकि मनोवृत्ति की इस समाधि में जीवन के समग्र पहलू सामंजस्य के साथ एक दूसरे से संवर्लित होकर अखण्ड रस के उस प्ररोचन एवं प्रस्पन्दन को जन्म देते हैं जिनका उत्पन्न करना काव्यकला का परम लक्ष्य है। जीवन एवं कला का यह समंजस विकास ही ऋषियों की दृष्टि में कला का परम लक्ष्य रहता आया है और इसी के उन्नयन में उन्होंने अपनी वाणी को सफल बनाया है।

'उचित' शब्द की व्युत्पत्ति उच् धातु से है, जिसका अर्थ कि 'प्रसन्न होना' एवं 'प्रसन्न करना' है। इसी उच् धातु से ओकस् शब्द बना है जिसका अर्थ घर है; क्योंकि घर सदा सब को समान रूप से प्यारा होता है। अंग्रेजी की *Home sweet home* इस कहावत का मर्म यही है।

उचित के भाव को 'औचित्य' कहते हैं; और जिस प्रकार 'त्रिवृत्' जीवन की सफलता औचित्य पर निर्भर है उसी प्रकार त्रिवृत् जीवन का रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना का सौंदर्य भी औचित्य पर निर्भर है। औचित्य के इसी व्यापक मर्म का निदर्शन अथर्ववेद के ३. ३० में इस प्रकार आता है :—

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाध्या ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यंचः सम्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न वि यन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत् कृणो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्त्यः सधुराश्चरन्तः ।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नमागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।

सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

सध्रीचीनान् व संमनसस्कृणोमि एकश्नुधीत् संवननेन सर्वान् ।

देवा इवामृत रसमाणाः सायप्रातः भीमनसौ वो अस्तु ॥

विद्व के अणु-अणु को क्रियासूत्र में सबलित करके जीवनपथ पर अग्रसर करने वाले औचित्य तत्त्व का अवबोध कराने के लिए वेद ने बार बार स, सह, एव सम् शब्द का प्रयोग किया है और इसके द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि मानव-जीवन को बननीय एवं सवादी बनाने वाला तत्त्व औचित्य ही है।

और यदि जीवन में सबदन उत्पन्न करने का श्रेय औचित्य को है तो निश्चय ही उसका रागात्मक ध्यायान करने वाली कवि-रचना को सफल बनाने का काम भी औचित्य ही का है, तभी तो दण्डी ने कहा है—

अन्यथर्मस्ततोऽन्यत्र लोकमीमानुरोधिना ।

मम्यगाधीयते यत्र स समाधिः रमृतो यथा ॥

तदेतत् काव्यसर्वस्व समाधिर्नाम यो गुणः ।

कविसार्थः समप्रोऽपि तमेकमुपजीवति ॥

‘समाधि’ शब्द से यहाँ हम औचित्य ही की ओर दण्डी का सकेत समझते हैं और औचित्याधान की दृष्टि से ही इन पक्तियों की व्याख्या करते हैं। आनन्दवर्धन ने औचित्य को ‘रस’ की परा उपनिपद् बनाया हैः—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसमङ्गर्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यकथ्यस्तु रमस्योपनिपत् परा ॥

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।

सर्वत्र गद्यकव्येऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥

रसकथोक्तमौचित्यं माति सर्वत्र सप्रिया ।

रचनाविषयापेक्षं तच्च किञ्चिद् विभेदवत् ॥

अर्थात् कवि-रचना के आत्मारूप ‘रस’ के प्रवाह में यदि कोई वस्तु रोड़ा अटकानी है तो वह है ‘अनौचित्य’, रस का स्वारसिक प्रवाह तो औचित्य पर ही अवलंबित है। क्या पद्य और क्या गद्य सभी प्रकार की कवि-रचना का प्राण औचित्य है—उसी के उचित सनिवेश में कवि-रचना की सफलता सनिहित है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य की अपनी औचित्यविचारचर्चा में रस-जीवित के रूप में स्थापना की है। ग्रन्थ के आरम्भ में वे कहते हैंः—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चास्त्वने ।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽमुना ॥

अर्थात् रचना में चमत्कार उत्पन्न करने वाले, कविकृति के स्वादिष्ट चर्चण में रस के जीवन रूप औचित्य पर यह हम विचार करते हैं। क्षेमेन्द्र के उक्त कथन से व्यक्त है

कि उनके अनुसार काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति औचित्य से होती है और कविता के प्रगाढ़ आस्वादन में द्रवित होने वाले रस का प्राण भी औचित्य ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता श्रोता एवं प्रेक्षक के आत्मा को तभी द्रवित करती है जब कि उसके अंग-प्रत्यंग औचित्य के द्वारा परस्परसंवादी संपन्न हुए हों और औचित्य के माध्यम से वह सर्वात्मना आत्मा के साथ एकाकार बन गई हो। कह सकते हैं कि औचित्य ही काव्य के विभिन्न तन्तुओं का संवलक है और उसी से उनमें सौंदर्योद्बोधन की क्षमता आती है। जीवन में रसास्वाव औचित्य ही से होता है और उसी से चमत्कृत हुई वाणी श्रोता एवं प्रेक्षक को ब्रह्मरस का आस्वादन कराने में समर्थ होता है। औचित्य के महत्त्व को आगे चल कर क्षेमेन्द्र इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्याकथितैर्गुणैः ।  
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥  
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।  
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥  
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।  
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥  
उचितं प्राङ्गुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।  
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं। किंतु सच पूछी तो रस में पके काव्य का रहस्य उसके सर्वावयवसारी औचित्य में संनिहित है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अलंकार, गुण और रस उत्कृष्ट रचना के लिए सभी आवश्यक हैं, किंतु इन सब में चमत्कार तभी खिलता है जबकि इन सब में व्यष्टि एवं समष्टि दोनों प्रकार से औचित्य विद्यमान हो।

पहले कह चुके हैं कि उचित शब्द की व्युत्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से हुई है; फलतः उचित शब्द का मौलिक अर्थ मन्द, रमणीय, एवं प्रसादकारी है। मन्द एवं प्रसादकारी वस्तु ही उचित अर्थात् समंजस, संवादी, ऋजु, एवं शिव होती है। काव्याचार्यों ने 'उचित' शब्द के इस मौलिक अर्थ पर ध्यान न दे उसके एक अर्थ अर्थात् 'समंजसता' में ही उसका पर्यवसान कर दिया है। फल इसका यह हुआ कि औचित्य शब्द अपने मौलिक व्यापक अर्थ से च्युत होकर अपने प्रचलित अर्थ में चल पड़ा और इस कारण समालोचकों ने उस पर संकुचित टीका-टिप्पणी आरम्भ कर दी।

किंतु जब हम 'उचित' शब्द के मौलिक अर्थ 'मन्दता' पर ध्यान देते हैं तब अपने मौलिक एवं विकसित दोनों अर्थों को अपने भीतर समाहित करके क्षेमेन्द्र का औचित्य



तत्त्व काव्यमिद्वान्त के सार में चित्र उठता और रचना सौन्दर्य का सर्वांगपूर्ण लक्षण बन जाता है ।

यह हुआ यथार्थ औचित्य तत्त्व । यह जिम प्रकार चराचर को चलाने वाले ऋतु तत्त्व से अभिन्न है उसी प्रकार ऋतुसारी कवि रचना का भी यह जीवित सूत्र है ।

## २

आइये अब जरा औचित्य की प्रचलित मीनामा का दिग्दर्शन कर लें । हम सम्बन्ध में क्षमेद्र की निम्न कारिका उद्धृत की जा चुकी है—

उचिन प्राङ्गुराचार्या मद्गुह किञ्च यस्य यत् ।

उचिनस्य च यो भावस्तौचित्य प्रचक्षते ॥ ओ० ७

अर्थात् जो वस्तु जिमके अनुरूप है उसे हम उस वस्तु के लिए उचिन कहते हैं । उचिन का भाव ही औचित्य है । हम जानते हैं कि सब वस्तुओं का समी के साथ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता । किसी वस्तु का किसी वस्तु विशेष के साथ सम्बन्ध ही उचिन हुआ करता है । उदाहरण के लिए मोतियों का हार गन्ध में फटना है और नूपुर पैरों में । फलतः मौक्तिक हार गले के और नूपुर पैरों के लिये उचिन है । इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण एवं वीर और रौद्र रस के साथ औज गुण ठीक बैठता है । दो वस्तुओं के हम सम्बन्ध अथवा सामन्तस्य को हम औचित्य कहते हैं ।

पहले कह चुके हैं कि औचित्य की काव्यमिद्वान्त रूप में प्रतिष्ठापित करने का क्षेमेन्द्र आचार्य क्षेमेन्द्र को है । किन्तु हमका यह आशय नहीं कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती विचारकों का हम ओर ध्यान नहीं गया था । क्षेमेन्द्र से पहले भी भरत और आनन्दवर्धन औचित्य पर विचार कर चुके थे । भरत ने औचित्य की नाट्य में प्रतिष्ठा की थी और आनन्दवर्धन ने उसी नाट्य एवं काव्य दोनों ही क्षेत्रों में अवतारण की थी । आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को पूरे काव्यजगत् में उसका उचिन आसन पर बिठा कर उसकी एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्राप्तिप्राप्ति की है ।

भरत के अनुसार अभिनय का लक्ष्य प्रशुक के हृदय में रस मचाना करना है । इसी उद्देश्य से नाटक का मातृ क्रियाकलाप रसोत्पत्ति की ओर अभिमुख होता है । अभिनय, छन्द, अलंकार एवं स्वर आदि नाट्य की सभी कदियों का प्रमुख उद्देश्य प्रशुक के हृदय में रस का छीन बहा देना है । भरत ने रस को काव्य का आधार मान कर ही गुण दोष का विवेचन किया है । उनके अनुसार रस के अनुरूप होना ही गुण और

उसके प्रतिकूल होना ही दोष है। गुण रसोद्रेक में सहायक और दोष रस के विघातक होते हैं। पात्रों के वेष की देशकालानुकूलता पर बल देते हुए भरत कहते हैं:—

अदेशजो वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥

अर्थात् यदि पात्रों का वेष देशकाल के विपरीत हुआ तो वे प्रेक्षकों के उपहास के पात्र बन जाएंगे। क्योंकि गले में तगड़ी और हाथ में नूपुर डालना मूर्खता के सिवाय और क्या है ?

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य सिद्धान्त को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय काम किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने औचित्य का विवेचन काव्य के प्रकीर्ण अंगों के संबंध में किया था; पर आनन्दवर्धन ने काव्य के आत्मभूत रस के साथ भी औचित्य का घनिष्ठ संबंध उद्घोषित करके औचित्य को सिद्धान्त के रूप में काव्य के व्यापक जगत् में अवतीर्ण किया। आनन्दवर्धन रस या रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस के परियाक में सबसे अधिक आवश्यक 'औचित्य' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वस्तु एवं अलंकार रस के बाह्य उपकरण हैं—इसलिए रस की अपेक्षा ये दोनों गौण हैं। काव्य में इन दोनों का प्रयोग रसोत्थापन के लिये किया जाता है। इसी मान्यता के साथ आनन्दवर्धन ने वस्तु-औचित्य एवं अलंकार-औचित्य की अपने ग्रन्थ में चर्चा की है। काव्य में वस्तु एवं अलंकार का अपना स्वतंत्र मूल्य नहीं होता। अलंकार्य रस के चमत्करण पर ही इनकी सजीवता निर्भर है। आनन्दवर्धन कहते हैं:—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।

अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ ( ध्वन्यालोक )

वस्तु एवं अलंकार-औचित्य के साथ-साथ आनन्दवर्धन ने 'रस-औचित्य' की भी मांसा भी बड़े मार्मिक ढंग से की है; और इस बात को स्वीकार किया है कि रस-औचित्य के विघात से रसदोष खड़े हो जाते हैं, जो कि सामान्य कोटि के दोष न होकर प्रधान कोटि के दोष गिने जाते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार रस का सबसे अधिक गहरा रहस्य 'औचित्य' है और उसका सबसे बड़ा विघातक है अनौचित्य। इसीलिये उत्तम काव्य के लिये यह आवश्यक है कि उसका अंग-अंग औचित्य के सांचे में गड़ा गया हो। रस-औचित्य की प्रधानता पर बल देते हुए भी आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वाच्य एवं वाचक की औचित्यसंवादी योजना सारस्वत कवि का प्रधान लक्षण है:—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।

रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ॥

ऊपर कह चुके हैं कि काव्य जगत् में औचित्य का आदर प्राचीन काल से है, किंतु यह बात निर्विवाद है कि औचित्य को काव्य का मुख्यवस्थित व्यापी सिद्धान्त क्षेमेन्द्र ने बनाया है। उनके अनुसार काव्य के अंग पद, काव्य, गुण एवं रसादि सबके सब औचित्य में सवलित होकर ही सजीव बनते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकने हैं कि काव्य के मग अंगों में प्राग फूटने वाला औचित्य ही है। औचित्य की इसी व्यापक मान्यता के कारण क्षेमेन्द्र ने उसका काव्य के २४ अंगों के साथ संबंध दिखाया है।

एक समय था जब कि आलंकारिकों ने औचित्य को निरपेक्ष रूप से काव्य का जीवित माना था पर आचार्य अभिनव गुप्त ने इस मन्तव्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार रस एवं व्यञ्जना से सवलित हुए बिना औचित्य के यथार्थ रूप को पहचानने का प्रयत्न औचित्य की विह्वलना करना है। फलतः आचार्य अभिनव एवं आनन्दवर्धन ने औचित्यसवलित रस-व्यञ्जि को काव्य का आत्मा माना है। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि हम इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। आचार्य अभिनव का सिद्धान्त है कि काव्य का मूल तत्त्व 'रस' है, फलतः 'रस' को उसका उच्च आसन दिये बिना औचित्य की चर्चा अप्रासंगिक है, क्योंकि औचित्य का असली रूप तभी उघड़ता है जब कि जिसके विषय में औचित्य को स्थापित किया जाय वह वस्तु अपनी जगह अपने असली रूप में विद्यमान हो। काव्यजगत् में वह वस्तु काव्य का आत्मा रस है। इसके बिना औचित्य की चर्चा विह्वलना मात्र है। जैसा कि कहा है —

औचित्यवनी जीवनमिति चेत् औचित्यनिर्वापन रसभावादि मुक्त्वा नायं विचिदस्तीति ।

आचार्य अभिनव ने साथ शब्दों में औचित्य-सवलित रस को काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किंतु आचार्य क्षेमेन्द्र ने उनसे कुछ आगे बढ़ कर औचित्य ही को काव्य का जीवन स्थापित किया है। अपनी औचित्यविचारचर्चा के प्रारम्भ में क्षेमेन्द्र कहते हैं —

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चाश्चर्वण ।

रसजीवितभूतस्य विचार कुर्वतेऽपुना ॥

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा सदा ।

औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम् ॥

अर्थात् औचित्य ही काव्य में मनोहरता उत्पन्न करता और वही रस-चर्वण में रस की असली जान है। अलंकार अलंकार ही है और गुण गुण ही। किंतु औचित्य तो रस में पके काव्य का स्थायी जीवित है। निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की सिद्धि अर्थात् उसका पर्यवसान रस में होता है, और रस की जन औचित्य में है। इस प्रकार रस

और औचित्य दोनों तत्त्व एक दूसरे के परिपोषक हैं। निम्न उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवद् रससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः । औचित्यं स्थिरमविनश्यत् जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् ॥ औ०

क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में काव्य के निम्नलिखित अंगों में औचित्य-विन्यास आवश्यक बताया है :—

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, वृत्त, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, और आशीर्वाद ।

यहां इन सब अंगों के औचित्य पर विचार करना अनुचित होगा; अलवत्ता प्रधान अंगों के औचित्य पर विहंगम दृष्टि डाल देनी आवश्यक है ।

## गुणौचित्य—

ओज, माधुर्य, प्रसादादि गुण काव्य की शोभा को तभी बढ़ाते हैं जब उनका प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयोग हुआ हो । इसीलिये आलंकारिकों ने रस-विशेष के लिये गुणविशेष का उन्नयन ही उचित बताया है । उदाहरण के लिये यदि काव्य का वक्ता वीर है तो उसकी उक्ति में ओज गुण फवता है । और यदि काव्य में शृङ्गार रस की अभिव्यंजना अपेक्षित है तो प्रसंग में कवि को माधुर्य गुण का उन्मेष करना उचित है ।

## अलङ्कारौचित्य—

जिस प्रकार उचित अंग पर उचित रूप से सजाये गए आभूषण कामिनी को चार चांद लगा देते हैं उसी प्रकार काव्य में उचित स्थान पर उचित रूप से प्रयुक्त हुए अलंकार उसमें जान डाल देते हैं । अलंकारों का उचित प्रयोग तभी संभव है जबकि वे प्रकृत वस्तु के अनुरूप जड़े हुए हों । क्षेमेन्द्र के शब्दों में प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयुक्त हुए अलंकारों से कवि-रचना उसी प्रकार खिल उठती है जैसे कि कामिनी के पीन स्तन पर लहराते हार से उसकी शोभा शतगुण हो जाती है । क्षेमेन्द्र कहते हैं :—

अथौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।

पीनस्तनस्थितेनैव हारेण हरिणेषुणा ॥ औ०

सच पूछो तो अलंकार की अलंकारता इसी बात में है कि वह प्रकृत अर्थ का उन्नायक हो । नीरस काव्य पर अलंकारों के पन्ने बेजान सावित होते हैं,—उन्हें देखा रसिकों का

हृदय अकुरित नहीं होता। इसी कारण अन्कारिकों ने अलंकारों से चमत्कृत किंतु रसविहीन कविता को अधम कोटि की माना है।

## रसौचित्य—

रसवादियों के अनुसार काव्य की आत्मा रस है। यह सिद्धांत सुत्तियुक्त है। किंतु यह बात मा सुक्तिमग्न है कि औचित्य से सबलित होकर ही रस काव्य का आत्मा बनता है और औचित्यसंवादा रचना ही श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय की आवर्जित करती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं—

कुर्वन् सर्वांशये व्याप्तिमौचित्यचिरो रस ।  
मधुमाम् इवाशोकं करोत्यकुरितं मनः ॥  
यथा मधुरनिष्काषा रसाः कुशलयोगिना ।  
विचित्रास्वादनां यान्ति शृङ्गारावास्तथा मिथः ॥  
तेषां परस्परालेखान् कुर्वादीचित्ररक्षणम् ।  
अनौचित्येन संसृजः करयेद्यो रमसकरः ॥

अर्थात् जिस प्रकार मधुमास की सहलन में अशोक अकुरित हो उठता है इसी प्रकार औचित्य से सबलित होकर रस श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में देशी पीर पैदा कर देता है। जिस प्रकार कुशल सूद के द्वारा सबलित हुए पदूरसों का मौजन भोला की विचित्र आनन्द देता है उसी प्रकार परस्पर मर्शित हुए विविध रस श्रोता एवं प्रेक्षक की मनकली को चक्का देते हैं। हमलिये रसों के संवार में औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक है। रमसकर के औचित्य का उदाहरण देते हुए क्षेमेन्द्र ने व्यास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

मत्स्य मनोरमा रासाः सत्यं स्याद्विभूतयः ।  
किंतु मर्षागनायागमद्विलोहं हि औचित्यम् ॥

उक्त पद्य में शृङ्गार एवं शान्त रस का सकर श्वचिन मयत्र हुआ है। शृङ्गार रस के औचित्य पर क्षेमेन्द्र ने कालिदास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

वालेन्दुवक्राण्यविकाशमायाद् वभुः पलाशान्यत्रिलोहितानि ।  
सद्यो वसन्तेन समागतानी नखशतानीव वनस्थलीनाम् ॥

इस पद्य के छिटाने का आशय यही है कि कालिदास शकर के हृदय में पार्वती के प्रति अमिलापरूप शृङ्गार उत्पन्न करना चाहते हैं। हम अमिलाप को मानने रसकर ही उन्होंने वसन्त के नखों से धन होकर लाल हुए वनस्थली का वर्णन किया है। वसन्त का यह संयोग शृङ्गार प्रकृत अर्थ के छिद निग्राह सशशी है। शकर के हृदय में पार्वती

के प्रति शृङ्गारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त वह उपयुक्त उद्दीपन का कार्य कर रहा है।

यहां तक हमने भारतीय काव्यशास्त्रों में औचित्य की गरिमा दिखाई है। औचित्य की यह महत्ता भारतीय काव्यशास्त्र में ही नहीं, अपितु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी समान रूप से स्वीकार की गई है। प्राचीन काल से ही पाश्चात्य आलोचक औचित्य को काव्य-समीक्षा में महत्त्व देते आए हैं। किंतु इन लोगों ने औचित्य को काव्य के बहिरंग तक ही सीमित रखा है। जहां एक ओर हमारे यहां औचित्य को काव्य का अन्तस्तत्त्व माना गया है वहां पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में इसे बाह्य सौन्दर्य का उपकरण बताया गया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के प्रवर्तक अरस्तू ने अपने पौयटिक्स एवं रेटोरिक्स नामक ग्रन्थों में औचित्य की मार्मिक समीक्षा की है। काव्य में भाषा के औचित्य पर विचार करते हुए अरस्तू कहते हैं कि रचना में भाषा का प्रयोग विषयानुसार होना चाहिए। सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में एवं उग्र विषय का वर्णन सुकुमार शब्दों में किया जाय तो रचना का प्रभाव बिगड़ जायगा। अपनी रेटोरिक्स में अरस्तू कहते हैं :—

It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language, there is a certain loss of persuasiveness.

अरस्तू के बाद अन्य आलोचकों ने भी औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उपसंहार इन शब्दों में कर सकते हैं। भारत में वाणी की पूजा वैदिक काल से चली आ रही है और भारत के विचारकों ने वाणी के परिष्कार को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनाया है। वेदों ने अलंकृत भाषा का प्रयोग करके भावी विचारकों को अलंकार शास्त्र का मार्ग दिखाया है, जिन्होंने परिष्कार के एक एक पक्ष को लेकर अपने अपने पृथक् सिद्धान्त स्थापित किए और उन्हें आगे बढ़ाया। प्रचलित काव्यशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि-रचना का प्रमुख लक्ष्य श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में चमत्कृत रस का स्रोत बहाना है, एक अनोखी, दिल से रिसने वाली 'पीर' पैदा करनी है, जिसके आवेश में भौतिक जगत् तरल बनकर एक नवले छाया-जगत् में बदल जाता और उसके कण-कण से ऐसा रस रिसने लग जाता है जो श्रोता एवं प्रेक्षक की 'पीर' के साथ तदात्म होने के कारण उसे 'शून्य' के उस पुलिन पर पहुंचा देता है जहाँ सत् और असत् दोनों एक हो जाते हैं, जहां जीवन और मृत्यु समान रूप से आनन्ददायक बन जाते हैं। हमारे आचार्यों ने चमत्कार-संवलित शब्द और अर्थ के समवाय को साहित्य माना है और काव्यगत चमत्कार को विभिन्न आलंकारिकों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। आनन्दवर्धन इसे ध्वनि कहते हैं जब कि कुन्तक इसे वक्रोक्ति,

अमिनव गुप्त वैचित्र्य और क्षेमेन्द्र इसे औचित्य सत्ता देते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निराला स्थान है—किंतु औचित्य शब्द की निष्पत्ति प्रमादार्थक उच्चातु से होने के कारण इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है और इसमें रचना को चमत्कृत करने के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय को अकुरित करते और जीवन के लिए क्षेमकारी होते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा नामक रचना में औचित्य का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

भारत में ऐसे भी मौमांसक हो गुजरे हैं जिन्होंने औचित्य की रसादि से सुवरा स्वतन्त्र सत्ता मानी है और उसे ही काव्य-नस्त्व का अष्ट आसन प्रदान किया है। पर आचार्य अमिनवगुप्त ने इस मन्तव्य से अमदमति प्रकट करते हुए औचित्य को एक मन्त्र विशेष बताया है और इसी रूप में उसे काव्य के आत्मभूत रस का परिपोषक स्थापित किया है। किंतु क्षेमेन्द्र ने काव्य, रस और औचित्य के त्रिभुज पर सरस्वती की बटना की है और उनकी दृष्टि में काव्य की सिद्धि रस में होती है और रस का जीवित औचित्य में है। क्षेमेन्द्र के निम्नलिखित श्लोकों का आशय यही है—

‘औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चाश्चर्यम् ।

रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽपुना ॥’

‘औचित्य रससिद्धस्य स्थिर कायस्य जीवितम् ॥’

मूर्यकान्त

\* श्रीनृसिंहाय नमः \*

# नृसिंहचम्पूः

## अथ प्रथमोच्छ्वासः

आनन्दं स दधातु धातुरपि यो धाता यदङ्घ्रिस्त्रिवद्-  
दिव्याम्भः सुरधुर्यधूर्जटिजटाजूटावतंसायते ।  
भूयो दानवभारभङ्गुरधरोद्धारैकधीरः स्वयं  
लीलावैभवनिर्मितस्य जगतो वैकुण्ठकण्ठीरवः ॥ १ ॥

यस्माद् धृदोऽजनि सुदुर्लभरत्नमेतत् प्रह्लादरूपमपरं च भवेन्तु तत्र ।  
योऽन्वेषयन्निति ददार सुरारिवत्तस्मै नमो नृहरयेऽद्भुतविक्रमाय ॥ १ ॥

अशेषविद्वज्जनसंमतं यत् पवित्रितं सच्चरितैर्मुनीनाम् ।

श्रीकाशिनाथस्य पदारविन्दं श्रीशुद्धबोधस्य च भावयामि ॥

ईशानुरक्तस्य सतां मतस्य श्रीभिक्षुवर्यस्य पितुः स्मरामि ।

आत्मानमानन्दयितुं जनन्याः रमाभिधायाश्चरणौ वहामि ॥

सूर्याभिधो नवरसां कविचक्रवर्ती चम्पू चकार नृहरेश्चरितैः पवित्राम् ।

श्रीसूर्यकान्तविबुधोऽथ नृसिंहभक्तो व्याख्यात्यपेक्षितपदैर्गुणिनां हिताय ॥

आनन्दमिति—यः धातुः ब्रह्मणः अपि धाता विधाता 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं  
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः; यः ब्रह्मणोऽपि निर्मातेत्यर्थः । यदङ्घ्रिस्त्रि-  
वद्विव्याम्भः यस्य च अङ्घ्रिभ्यां चरणाभ्यां 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।  
न्रवत् चरत् दिव्यं स्वर्ग्यम् अम्भो जलं गाङ्गं वारीत्यर्थः । सुरधुर्यधूर्जटिजटाजूटा-  
वतंसायते सुराणां देवानां धुर्यस्य नेतुः धूर्जटेः शिवस्य जटाजूटस्य कपर्दस्य 'कप-  
र्दोऽस्य जटाजूट' इत्यमरः । अवतंसायते भूषणमिवाचरति । यो दानवभारभङ्गुरो-  
द्धारैकधीरः यश्च स्वयं लीलावैभवनिर्मितस्य जगतो भूपः स वैकुण्ठकण्ठीरवः आनन्दं  
दधातु इति योजना । यश्च स्वयं दानवभारभङ्गुरोद्धारैकधीरः दानवानां दनुजानां  
भारेण भङ्गुरायाः भञ्जनशीलायाः चक्राया वा धरायाः सर्वसहायाः उद्दारे उद्दरणे



एकधीरः एकमात्र धीरः वर्तते इति शेषः । यत्र स्वयं लीलावैभवनिर्मितस्य लीलायाः कीदाया वैभवेन सामर्थ्येन निर्मितस्य सृष्टस्य जगतः भूभुवः स्वराज्यस्य लोकत्रयस्य भूपः नृपः । स वैकुण्ठकण्ठीरवः वैकुण्ठलोकस्य कण्ठीरवः इति पार्श्वतत्पुरुषः । वैकुण्ठो विष्णुरेव कण्ठीरवः सिंहः पालकः इति कर्मधारयो वा । सोऽसौ नृसिंहाख्यो हरिः आनन्दम् ऐहलौकिकं पारलौकिकं च सुखं दधातुं विभक्तुं पोषयतु इत्यर्थः ।

भङ्गुर इत्यत्र 'भञ्जभास' इति घुरच् प्रत्ययः । एकधीर इत्यत्र 'पूर्वकालैक' इति समासः । वैकुण्ठ इति विगता कुण्डा नातो यस्य स विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः । प्रज्ञादित्यादण् । अथवा विकुण्ठम् विविधा कुण्डा माया विद्यते यस्य स ॥ १ ॥

अनुवाद—विष्णुलोक का वह दिव्य भृगराज ऐहिक एव पारलौकिक आनन्द को बढ़ावे, जिसके चरणों से निकलने वाला लोकोत्तर जलधारा सुरसिरोमणि नटराज के जटा-जूट को विमूषित करती है, जो ब्रह्मा का भी निर्माण करने वाला है, जो अपने लीला वैभव से निर्मित सृष्टि का शासन है, [ इतना ही नहीं, बल्कि ] दानवों के भार से पीड़ित वसुधा के उद्धार में जो एक मात्र धीर है ॥ १ ॥

विमर्श—भारतीय परम्परा में भारती के उपासकजन सदाचार को प्रमाण मानने हुए प्रवरण के आरम्भ में सदैव माङ्गलिक श्लोक या श्लोकों का उपन्यास करने आए हैं । उनकी यह धारणा रही है कि किसी भी ग्रन्थ के सन्ध में तीन प्रकार के प्रतिबन्धक हो सकते हैं—समाप्तिप्रतिबन्धक, प्रचारप्रतिबन्धक एवं यज्ञ-प्रतिबन्धक । मङ्गल इन तीनों प्रकार के प्रतिबन्धकों का निरामक होता है, अतः भावों सन्तति भी इस परंपरा का पालन करे—यही सौचकर हमारे पूर्वज मङ्गल को लिखिकर कर देना आवश्यक समझने रहे हैं ।

यह मङ्गल भी तीन प्रकार का होता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, एवं वस्तु निर्देशात्मक । प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने आशीर्वादात्मक मङ्गल का विन्यास किया है । इसके पहले कि हम उस माङ्गलिक श्लोक का अर्थ करें, चम्पू काव्य का स्वरूप बना देना आवश्यक समझते हैं । साहित्यदर्पणकार महापात्र निरवनाथ ने चम्पू का अर्थ निम्न है—

‘गद्यपद्यमय काव्य चम्पूरित्वमिधीयते’

अर्थात् चम्पू वह काव्य है, जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों का मिश्रण हो । यद्यपि गद्य एवं पद्य का मिश्रण ‘रूपक’ में भी दिसलाई पड़ता है, तथापि दोनों का स्पष्ट अन्तर यह है कि रूपक दूरतः काव्य है और चम्पू शून्य काव्य । हाँ, यह अर्थ यह जा सझता है कि सन्धत कव्यकाव्य में गद्य एवं पद्य का मिश्रण रहता है और वह भी शून्य काव्य ही है, फिर उक्त अर्थ को वांछित तो नहीं ठाक हुआ । इस प्रश्न का समाधान यह है कि चम्पू ‘गद्यपद्यमय’ है और कव्य-काव्य उसमें भिन्न । आमतौर पर वह कुछ निश्चित ही

लगेगी । असल में ध्यान देने की वस्तु है—‘भयट्’ प्रत्यय । यहाँ यह ‘प्राचुर्यार्थक’ है । रहस्य यह हुआ कि चम्पू में गद्य एवं पद्य-दोनों का प्राचुर्य होता है, पर कथा-काव्य में गद्य की ही प्रधानता रहती है, पद्य तो क्वचित् ही होता है । कथा-लक्षण में स्पष्ट ही कहा है—

‘क्वचिदत्र भवेदाद्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके’

इस उद्धरण में ‘क्वचित्’ पद ध्यान देने योग्य है । इससे स्पष्ट सूचित होता है गद्य पद्य का मिश्रण उभयत्र होने पर भी दोनों में भेद है । इस प्रकार चम्पू का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ—

‘चम्पू वह श्रव्य काव्य है, जिसमें गद्य एवं पद्य का प्रचुर मिश्रण हो’

अलंकारः—(१) ‘दधातु धातु २’ में यमक तथा छेक का सांकर्य है ।

(२) ‘दधातु धातुरपि चो धाता’—यहाँ (‘धृत्’) अनेक वर्णों की असकृत् आवृत्ति है, अतः वृत्ति अनुप्रास भी हो सकता है ।

(३) ‘जटि जटा जूट्’ में भी अनेक वर्णों (जूट्) की असकृत् आवृत्ति है, अतः वृत्त्यनुप्रास है ।

भाव—यहाँ देवविषयिणी रति, जो कविनिष्ठ है, व्यक्त हो रही है; अतः उसको लेकर भाव-ध्वनि है ।

‘देवादिविषया रतिर्भावः प्रोक्तः’ प्रकाशकार ने कहा ही है ।

‘वैकुण्ठकण्ठीरवः’ में यदि बर्मधारय समास स्वीकार किया जाय, तो यहाँ ‘रूपक’ अलंकार भी हो सकता है ।

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित । यह एक वर्णिक वृत्त है जिसमें १९ वर्ण होते हैं । वृत्तरत्नाकरकार ने इसका अधोलिखित लक्षण किया है—

‘सूर्याश्वैर्भसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्’

म स ज स न त गु

SSS, IIS, ISI, IIS, ISI, SSI, S

अपि च—

यत्संकल्पविकल्पकल्पितजगज्जन्मात्ययाधिष्ठित-

प्राधान्यौ विधिशंकरौ किमु परे तन्नामरेन्द्रादयः ।

अन्तःसंततमन्तरायरहितैर्यो योगिभिर्ध्यायते

सान्द्रानन्दसुधोदधिं निरवधिं तं श्रीनृत्तिहं भजे ॥ २ ॥

यत्संकल्पेति—यत्र विधिशंकरौ धातृमहेशावपि यत्संकल्पविकल्पकल्पितजगज्जन्मात्ययाधिष्ठितप्राधान्यौ यस्य परब्रह्मणः हरेः नङ्कल्पेन इदमहं करिष्यामि इति

मानसध्यापारेण 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'स पेक्षत लोकान्नु घृजा' इति 'स लोकानसृजत' इति श्रुतेः । प्रकल्पेन विविधेन कल्पेन प्रकारेण चन्द्रादिसूर्यरूपेण कल्पितयोः निर्मितयोः जगज्जन्मात्मययोः जगतो भुवनत्रयस्य जन्मनि सत्त्वेनध्यापारे अत्यये संहारकर्मणि च अधिष्ठित प्राप्तप्राधान्य मुख्यत्वं याम्या तौ वर्तते इति शेषः । अथात् जगत उत्पत्तिसंहारकारकौ ब्रह्मशंकरावपि यस्य सर्गलयशक्त्यानुगृहीतावेव जगत उत्पत्तिसंहारौ कुरुत । तत्र परे इतरे अमरेन्द्रादयः प्रिदत्तप्रभृतय किमु तद्वशा इति किमु वाच्यमित्यर्थः । इन्द्रादीनां तु केव कथा इत्यर्थः । यः यश्च अन्तरायरहितं निर्विघ्ने इत्यर्थः, योगिभि चित्तवृत्तिनिरोधपरायणै मुमुक्षुभिः सन्ततं सतत त्यक्तान्यध्यापारैरित्यर्थः । अन्तः स्वामनि ध्यायते चिन्त्यते ध्यानविषयीक्रियते । सान्द्रानन्दसुषोदधिं सान्द्रानन्दसुधायाः निर्भरानन्दाद्यृतस्य उदधिं सागरम् आनन्दधनमित्यर्थः । निरवधिं निन्मीमानम् अनन्तं तममुं श्रीनृसिंहाख्य परं ब्रह्म भजे अहं सेवे अनन्यचेता सततं तत्प्रवणो भवामि इति भावः ॥ २ ॥

जिमके सकर विरूप मात्र से प्रसूत होनेवाले जागतिक सृष्टि एवं ध्वम जैसे बायों में मद्रा तथा शकर को भी प्रमुख भार वहन करना पड़ता है, वहाँ इन्द्र आदि अन्य देवताओं की गगना ही क्या है ? तथा जो निरन्तर एवं निर्विघ्नतापूर्वक योगियों की चित्तवृत्ति का विषय बना रहता है, उस असीम एवं घन मदिष्ट आनन्दाद्यृत के नशोदधि भगवान् नृसिंह का मैं स्मरण करता हूँ ।

अलंकार—'सर्वत्र विरल कल्पित' में अनेक वर्ण ( ल्पू ) की अमकृत्र आवृत्ति है, अतः वृत्ति अनुप्रास है । इसी प्रकार अन्तिम चरण में 'घ' वर्ण की भी अनेकशः आवृत्ति है, अतः वहाँ भी वृत्तनुप्रास है । छन्द पूर्वोल ही है ।

शेषोऽशेषविशेषगोक्तिनिपुणोऽप्यास्तेतरामस्तधी-

यस्योद्यद्गुणवर्णनेऽपि न ययौ वागीशवागीशताम् ।

यद् वेदोऽपि न वेद तत्र विषये मर्त्यः प्रवृत्तोऽस्म्यहं

यस्मादर्भकमावगर्भितगिरा स्यादेव कौनूहलम् ॥ ३ ॥

शेष इति—यस्य श्रीनृसिंहारयस्य परमहंस उद्यताम् उद्गच्छतां जगति आविर्भवतां, किमुत अन्तर्हितानामिति भावः । गुणानां निरतिशयवैभवानां वर्णने कथने अशेषविशेषगोक्तिनिपुणः अशेषाणां सर्वेषां विशेषणानां गुणादीनां विशेष्य-धर्माणां उत्तमै कथने निपुणः कुशलः शेषोऽहिराहपि अस्तधीः मन्दप्रज्ञ सन् आस्ते-तरां तूष्णीं तिष्ठति मौनमाचरति । जगद्दिदितानामपि श्रीनृसिंहगुणानामनन्त-रूपमिति भावः । तथा वागीशवाग् वागीशस्य गृहस्पतेरपि घातू गीः ईशवां सामर्थ्यं पाटवं वा न ययौ न प्राप । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनमा मर्ह'

इति श्रुतेः वाङ्मनसातीतत्वान्तस्येति भावः । किंच वेदोऽपि वेदत्रय्यपि यत् यन्नृ-  
सिंहाख्यं ब्रह्म न वेद न जानाति 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ती'ति श्रुतेः । तत्र तद्-  
वर्णने मर्यः मरणधर्मा सन्नप्यहं प्रवृत्तः अस्मि । तद्वर्णनपरः संजातोऽस्मि ।  
यदो शेषादयः शाश्वतिकधर्माणोऽपि तद्वर्णनेऽशक्ताः तदा मादृशां तु कैव कथेति  
मर्त्योपादानम् । परंतु यस्मात् यतः कारणात् अर्मकभावः अर्मकता बाल्यं गर्भितं  
तिरोहितं यस्यां सा गीः वाणी तथा विदुषां किंचित् कौतूहलं कौतुकं स्यादेव भवे-  
देव । 'यथा अर्मकाणां स्वलन्ती वाक् सर्वान् कुतूहलयति तद्वत् ममापि इदं काव्यं  
विदुषां कौतुकमातनियति इति धियाऽत्र प्रवृत्तोऽस्म्यहमिति भावः ॥ ३ ॥

अन्तर्निहित गुणों की बात छोड़ें, जिसके व्यक्त एवं श्रुतिगोचर गुणों के वर्णनार्थ निखिल  
विशेषणोंकी उक्ति में कुशल ( सहस्रमुख ) शेषनाग भी मन्दप्रज्ञ हो मौन साध लेते हैं;  
यहाँ तक कि स्वयं वाचस्पति की वाणी भी निःस्पन्द हो जाती है, जिसको अन्ततः  
वेद भी नहीं जानता, उस परब्रह्म के वर्णन में मरणधर्मा में जो प्रवृत्त हुआ हूँ, वह  
केवल इसलिए कि बालचापत्य से भरी हुई बुद्धि के उद्गारों को सुनकर लोगों को  
कुतूहल हो ॥ २ ॥

प्रथम चरण में वृत्त्यनुप्रास के साथ 'असाध्य कर्म के प्रवर्तक हेतुरूप' में उपन्यस्त  
चतुर्थ चरणके अर्थ को लेकर 'कान्यलिङ्ग' नामक अलंकार भी है । छन्द वही है ॥

विष्णोश्चिरं चरणपङ्कजचञ्चरीकः

श्रीज्ञानराजतनुजो दनुजान्तकस्य ।

सूर्यः करोति गुणगौरवकीर्तनेन

स्वीयां सुधारसवता रसनां सनाथाम् ॥ ४ ॥

विष्णोः इति—दनुजान्तकस्य दानवसंहारकर्तुः विष्णोः नृसिंहस्य चिरं चिर-  
कालपर्यन्तमावाल्यादित्यर्थः । चरणपङ्कजचञ्चरीकः पादपद्मभ्रमरः तत्समाराधन-  
पर इति यावत् । श्रीज्ञानराजतनुजः श्रीज्ञानराजरस्य तन्नामधेयस्य पितुः तनुजः  
आत्मजः सूर्यः तन्नामाहं कविः सुधारसवता अमृतमयेन गुणगौरवकीर्तनेन गुणानां  
गौरवस्य महिम्नः कीर्तनेन स्तुत्या स्वीयामात्मीयां रसनां जिह्वां सनाथां कृतार्थां  
करोति चित्तनुते । 'चञ्चरीकोऽथ भ्रमरे' इति कोषः ॥ ४ ॥

दानवोंके संहारक विष्णु के चरण—कमल का चिरकाल से भ्रमर की भाँति लोभी  
ज्ञानराज का पुत्र सूर्य नामक कवि अपनी वागिन्द्रिय को अमृत रस से सराबोर गुण एवं  
गौरव के कीर्तन द्वारा कृतार्थ करने जा रहा है ॥

छंद—उसन्त तिलका है । प्रथम चरण में रूपक नाम का अलंकार है ॥ ४ ॥

कुतो रसनिरूपणं त्रिघटिकावतारः कुतस्

ततो मम मतिः क च क चरितं जगत्स्वामिनः ।

कुतः प्रथिततार्णयो लवणनिर्मिता नौः कुतस्

तथापि मम चापलं कविजनाः क्षमध्वं क्षणम् ॥ ५ ॥

कुत इति—रमनिरूपणं शृङ्गारादीनां नवविधानां रसानां निरूपणं प्रतिपादनं कुतः क, त्रिघटिकावतारः श्रीविष्णोः नृसिंहरूपेण त्रिघटिकामितं कालं यावत् अवतारः अवतरणं कुतः क । नोभयं सङ्गच्छते इत्यर्थः । प्रह्लादरक्षाकृते विष्णुना केवलघटिकाग्रयमितकालमवतीर्य पुनरन्तर्हितमिति पौराणिकी कथा स्वल्पकालिकं चरिते सर्वरसानां सत्त्वेऽतिदुर्लभ्यत्वेन न सर्वरसानां स्फुटतरानुभावकं चरितं जगदीश्वरस्यापि इति तच्चरितवर्णने सर्वरसप्रतिपादनमपि न स्यात् । ततः ततोऽपि बुधं समुच्यते इति दोषः । मम मतिः अत्यल्पविषया मम बुद्धिः क कुत्रः जगत्स्वामिनः त्रिलोकीपतेः विष्णोः चरितं च क । एतदप्युभयं नैव सङ्गच्छते । प्रथिततः सुविस्तृतः अर्णवः सागरः क तं तरीतुं लवणनिर्मिता लवणेन सैन्धवेन निर्मिता रचिता नौः तरणिः च क । यथा सागरं तरीतुं लवणनिर्मिता नौः न कार्यवाहिका तद्वत् अत्यल्पमते । ममापि जगत्स्वामिनः चरितं वर्णयितुं न सामर्थ्यमित्यर्थः । तथापि कविजनाः विद्वांसः ममेदं चापलं तद्वर्णनात्मकमित्यर्थः क्षणं क्षमध्वं सहध्वम् । अभङ्कस्य स्पन्दन्ती घागिव न तेषां उद्देगजनकं भवेदिदं मे तद्वर्णनात्मकं चापमिति भावः ॥ ५ ॥

भला, वहाँ नव रसा की चर्चा और वहाँ तीन घटिका—मात्र बाल तक का नृसिंहावतार ? इनकी क्या सहजति है ? इसमें भी असङ्गत बात सुनिये, वहाँ मेरी अत्यल्प बुद्धि और वहाँ जगत् के स्वामी का अगाध चरित ? अपनी अल्पबुद्धि से इनके चरित्र का वर्णन तो वैसा ही दुष्कर है जैसे विशाल समुद्र का सतराज करने के लिए नमक की बनी नौका का अवलम्ब । फिर भी उस दुःसाध्य कार्य को करने के लिए मैं जो उद्यम दिगारं पड़ता हूँ, उस चापस्य को कविजन कुछ समय के लिए क्षमा करें ।

इस श्लोक में 'क्षिप्त' नामक अलंकार है ॥ ५ ॥

शृण्वन्तु मत्कृतिमिति प्रथितान् कवीन्द्रान्

न प्रार्थयेहमिह कोऽपि गुणो यदि स्यान् ।

ते चापलोक्तिरसिका यदि वा भवेयुः

स्यादादरस्तदतिचारयियाममीषाम् ॥ ६ ॥

शृण्वन्तु इति—अहं सूर्यकरिरित्यर्थः । प्रथितान् जगद्भिख्यातान् कवीन्द्रान् कविमूर्धन्यान् मत्कृतिं ममेमां रचनां शृण्वन्तु आद्रियन्तामिति न प्रार्थये नाम्यर्थः यिनुमुत्सहं । यस्मान्, यदि इह अस्मिन् मम कान्ये कोऽपि गुणः स्यात् कश्चित् क्षमकारो भवेत् । यदि वा मम काम्यस्य गुणशून्यत्वेऽपि ते कवीन्द्राः चापलोक्तिरसिकाः बालचापलेन प्रयुक्ते वाक्ये सृष्टावन्त इत्यर्थः । भवेयुः स्युः तर्हि विनैव

सम निवेदनम् अतिचारधियां सुमेधसाम् अमीषाम् एतेषाम् कवीन्द्राणाम् आदरः स्यात् । स्वभावत एव तत्र तेषां प्रवृत्तिरुदियात् न तत्कृते कश्चित्प्रार्थनावसर इति भावः । 'यद्यस्ति वस्तु किमपीह तथानवद्यं द्योतेत तत् स्वयमुदेभ्यति चानु-रागः' इति भावः ॥ ६ ॥

‘प्रख्यात कवीन्द्र जन मेरी इस रचना को सुनें’—ऐसी प्रार्थना करने का साहस नहीं हो रहा है । मैंने अपने मन में यह समझ रखा है कि मेरे काव्य के संबन्ध में दो बातें हो सकती हैं : एक तो यह कि कदाचित् उसमें कोई गुण हो और दूसरी यह कि वह निर्गुण हो । यदि मेरी कविता में कोई गुण होगा, तब इन सुन्दर बुद्धि वाले कवीन्द्रों को उसमें त्वयं आदर होगा ही और यदि कदाचित् वह गुण-शून्य हुई और कविजन भी संयोग से शिशु-सुलभ-चापल्य-मयी उक्तियों के ध्वनरसिक हुए, तब क्या पूछना ? स्वभावतः श्रवण में प्रवृत्ति होगी ही । सारांश यह कि दोनों पक्षों में प्रार्थना का अवसर नहीं है । यहाँ काव्यलिङ्ग का सुन्दर निर्वाह है ॥

छन्द—वसन्त तिलका । इसमें १४ वर्ण होते हैं । गण ये हैं—त म ज ज एवं २ गुरु वर्ण ॥ ६ ॥

तत्र श्रीमन्मार्तण्डमण्डलाखण्डप्रचण्डकरनिकरविस्फाररुचिरप्रचुर-तरप्रकाशस्य सुरराजराजितमुकुटमणिविराजितपदनीरजस्य भगवतः सामराजस्य सुधामाधुरीधुरीणगुणगणवर्णनाकर्णनपूर्णकर्णान् प्रभूतनिर-तिशयतोषाभिलाषेण साधवः स्वत एवानुरक्ता भवेयुर्यथा स्वभाव एवा-मोदस्य यन्मधुकरानाकर्षति ।

तत्रेति—श्रीमन्तः कान्तिमतः मार्तण्डमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य ये अखण्डा अवि-कलाः प्रचण्डाः तिग्माश्च करनिकराः किरणसमूहाः तेषां विस्फारवत् सर्वत्रप्रसारवत् रुचिरः सुन्दरः प्रचुरतरः प्रभूततरश्च प्रकाशो यस्य तस्य सुरराजस्य देवेन्द्रस्य राजि-ता विद्योतमाना ये मुकुटमणयः किरीटरत्नानि तैः विराजिते सुशोभिते पदनीरजे चरणकमले यस्य तस्य देवेन्द्रेणापि पूजितस्येत्यर्थः । भगवतः सकलैश्वर्यसम्पन्नस्य ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा इति विष्णुपुराणोक्तभगार्थयुक्तस्य वा सामराजस्य साम्नां राजा सामराजः तस्य, सामप्रेष्टरूपः । विष्णोः सामरूपत्वात् । 'त्रिसामा सामगः साम' इति विष्णोर्नाम सहस्रे । 'यद्वा सामगर्भस्य' इति पाठः स्यात् । साम गर्भे यस्य स तथा । साम गर्भेति विष्णुनाम शब्दस्तोममहानिधौ । एवंभूतस्य ऋसिहात्यस्य सुधामाधुरी-धुरीणाः सुधामाधुर्यपूर्वहाः । सुधामाधुर्यवन्त इति यावत् । ये गुणगणाः गुणनिकशाः तेषामाकर्णनेन श्रवणेन पूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां प्रभूतः जातः यः निरतिशय-तोषः निरतिशयानन्दः तस्य अभिलाषेण इच्छया साधवः सन्तः स्वतः स्वयमेव अनु-

रक्षाः आकृष्टा भवेयुः । यथा आमोदस्य सुस्मेः अयं स्वभावः यत् स मधुरान्  
भमरान् आकर्षति आवर्जयति ।

इसमें भी अनुप्रास का चमत्कार दर्शनीय है ।

अथवा जिनका रुचिर एवं अत्यधिक प्रकाश चमकने हुए सूर्यमण्डलकी अस्मत् एव  
तीरी विरणों के प्रसार सा व्यापक है, जिनके पद कमल दवेन्द्र की भव्य मुकुटमणि से  
मधुर से निरन्तर शोभित रहा करने हैं, उन भगवान् सामरान के अमृतमय गुण-ग  
के प्रवण से कर्ण-कुहर के भर जाने पर जो प्रभूत एवं अकथनीय आनन्द मिला करत  
है उसकी अभिप्राया साधुजनों को [ प्रस्तुत रचना के प्रति ] शीघ्र ऐसे ही आकृष्ट का  
लेगी जिस प्रकार आमोद [ गन्ध ] स्वभावतः मधुररसो आकृष्ट कर लेता है ॥ ७ ॥

नटे सामाजिके वापि रसाविर्भाव इष्यते ।

तदत्रान्त्युभयं यस्मान् सर्वान्तर्यामिता हरेः ॥ ७ ॥

नट इति—रसाविर्भाव रसस्य शृङ्गारादेः आविर्भावः प्रादुर्भावः नटे अभिनेतरि  
सामाजिके तद्द्वयद्वय इति इष्यते मन्यते । यस्मात् यतः कारणत् हरेः धीविष्णोः  
सर्वान्तर्यामिता सर्वान्तरगतत्वमस्ति अतः तदुभयम् अभिनेतृत्वं दृष्टत्वं चेत्यर्थः ।  
अत्र अस्मिन्नेव नृसिंहे वर्तते ॥ ७ ॥

रस का आविर्भाव सामाजिक एवं अभिनेता दोनों ही में दृष्ट है । क्यों कि हरि सर्व-  
ान्तर्यामी है, अतः उनमें अभिनेतृत्व एवं सामाजिकत्व दोनों बन सकते हैं ।

ते स्युः कर्मादिह भयानकरोद्वीराः

वीरमत्सकाद्भुतमहास्यरूपाभिधानाः ।

शृङ्गाररसान्तसहिताः क्रम एव विद्धिः

नाङ्गीक्रियेत यदि तर्हि कथाविरामः ॥ ८ ॥

ते इति—ते प्रसिद्धाः शृङ्गारादयो रसा इह अस्मिन् मध्यगीते काव्ये क्रमात्  
परिपाटीतः पर्यायात् वा स्युः एवं भवेयुः । भयानकरोद्वीरेत्यादि—पूर्वं भयानक-  
रसनिरूपणमत्र करिष्यते, तदनु रौद्रः, वीरः, वीरमत्सकः, अद्भुतः, महास्यः  
हास्येन सहितः हास्यरस इत्यर्थः । रूपाभिधानः करुणरस इत्यर्थः । पश्चात् शृङ्गार-  
रसनिरूपणम् । तदनु च अन्ते शान्तरसः प्रतनिष्यतेऽत्र । यदि विद्धिः तज्ज्ञैः एव  
क्रमः एव पर्यायः नाङ्गीकरिष्यते मोररीकरिष्यते तर्हि कथाविरामः कथाविश्राम  
एव भवेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

वे प्रसिद्ध शृङ्गार आदि रस हमारे काव्य में हम क्रम से रहेंगे मरमे पहले भयानक  
रस का निष्पन्न यहाँ किया जायगा । उसके अनन्तर रौद्र, वीर, वीरमत्सक, अद्भुत, हास्य  
एव करुण का । मरके अन्त में शृङ्गार की चर्चा की जायगी और इसके भी अनन्तर में  
शान्त की । यदि विश्व जन हम क्रम में महान्त न हों तो कथा ही नहीं चल सपनी ॥

अलङ्कार—अणुप्राप्त । यहाँ भी वसन्त तिलका छन्द ही है ॥ ८ ॥

गर्भाविर्भावभाजः कतिकति दनुजद्वेपिणोनावतीर्णाः  
पूर्णास्तिर्यङ्नराणामपि अगति तथा तेन नासीन्नुत्सिंहः ।

यस्यात्मा नैति गर्भं सकृदपि मनुजास्तस्य किं गर्भवासः

किं तातस्तस्य यस्य स्वयमयमुदरे हेमगर्भोऽर्भकोऽभूत् ॥ ६ ॥

गर्भं इति—जगति अस्मिन् लोके संसारादारभ्य तिर्यङ्नराणां—तिरश्चां नराणां । मध्ये अवतीर्णाः अंशत इति शेषः, पूर्णाः परिपूर्णा अपि रामकृष्णादयः दनुज-पिणः असुरविध्वंसकाः कति कति केचन एव गर्भाविर्भावभाजः न गर्भात् योपि-दरात् आविर्भावं प्रादुर्भावं भजन्ते जुपन्ते इत्यर्थः । केचन एव गर्भाविर्भावभाज इति न अपि तु सर्वे एव इत्यर्थः । यतोऽयं नृसिंहः नरसिंहोभयात्मकः तिर्यङ्न-रोभयात्मक इति यावत् । तेन उभयात्मकत्वेन हेतुना अयं तथा गर्भाविर्भावभाक् न आसीत् इत्यर्थः । नहि तिर्यग् योपिद्गर्भो नारीगर्भो वा उभयात्मको भवतीति भावः । तेनायं भगवत् इच्छाविग्रह इति भावः । वस्तुतस्तु भगवतोऽन्येऽपि अव-ताराः गर्भाविर्भावभाक्त्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि परमार्थतो न तथेत्याह—यस्यात्मे-त्यादिना । मनुजाः हे नराः तस्य ईदृशस्य सर्वान्तर्यामिणो हरेः किं गर्भवासः नेत्यर्थः । किं तातः तस्य—किं तस्य परमात्मनः तातो भवितुमर्हति यस्योदरे स्वयम् आत्मना अयं प्रसिद्धः वेदवक्ता हेमगर्भः हिरण्यगर्भो ब्रह्मा अर्भकः अभूत् पुत्रत्वेन उदभूदित्यर्थः । संसारादारभ्य अद्यपर्यन्तं यथाकालं यथादेशं च अनेके भगवद्-वताराः धर्मस्थापनार्थमिहावतरेः ‘धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे’ इति गीता । परमिदं सर्वं परब्रह्मणस्तस्य मायाविजृम्भितमेव । वस्तुगत्या तु यः परेशः सर्वदा सर्वत्र अतति गच्छति व्याप्नोति तस्यैकदेशप्राप्तिः गर्भाविर्भावादि च न सम्भवति । यस्योदरात् हिरण्यगर्भाविर्भावः तस्यैव जनककल्पनमयुक्ततरमिति भावः ॥ ९ ॥

संसार में असुरों का विनाश करनेवाले तिर्यक् एवं मनुष्य योनि के बीच मत्स्य, राम आदि ऐसे कितने अवतार हुए, पर क्या सब के सब गर्भ से ही आविर्भूत नहीं हुए ? हाँ, नृसिंहावतार अयोनिज ही रहा [ और अवतारों से उसका वह विशेषता है ] । इस अवतार का अयोनिज होना तर्कसम्मत भी है । तर्क यह है कि वह अवतार नर एवं सिंह का मिश्रित रूप है, अतः इसकी उत्पत्ति के लिए भी मिश्रित योनि या गर्भ ही अपेक्षित था और वह था नहीं । और वस्तुतः विचार किया जाय तब तो अन्य अवतार भी आपततः ही गर्भसंभूत जान पड़ेंगे, परमार्थतः नहीं । कारण यह है कि वे सर्वव्यापक हैं । ऐसे परमत्त्व का गर्भ से आविर्भाव मानना उसे एकदेशी बनाना है ।

हे मनुजगण ! जिसकी आत्मा एक बार भी गर्भ में नहीं आई उसका गर्भवास कैसा ?



और शमी प्रकार उसके जनक की क्या कथा ? जिसके उदर में स्वयं जगत् का जनक  
ब्रह्मा भी शिशु की भाँति पड़ा है ।

अलङ्कार—व्यतिरेक । छन्द—सम्भरा है । इसमें २१ वर्ण होते हैं । इसमें म र म न  
य य य गण होते हैं ॥ ९ ॥

गीर्वाणेन्द्रगिर्युरोरपि गुरुर्धन्यो नृसिंहाचलो  
यो विरंभरमुद्विभर्ति गहनस्तम्भोऽयमम्भोनिधिः ।  
वासो यत्र जगन्निवासविहितः प्रह्लादमेकं जने  
मन्ये मान्यतमं तमम्बरसदां योऽन्तर्दधाराच्युतम् ॥ १० ॥

गीर्वाणेति—स नृसिंहाचलः नृसिंहस्य अचलः पर्वतः ( यस्मात् स्तम्भात्  
नृसिंहरूपेण श्रीविष्णुरवततार स अचल इव वर्तते इति रूपकम् ) धन्यो वर्तते ।  
य. गुरोः महतः गीर्वाणेन्द्रगिरि. देवेन्द्रपर्वतादपि गुरुः महान् वर्तते । धन्यत्वे महत्त्वे  
च हेतुमाह यो विश्वम्भरमित्यादिना । य. नृसिंहाचलः विश्वम्भरं जगद्भारकं श्रीविष्णुं  
उद्विभर्ति धारयति ।

अयं भावः—गीर्वाणेन्द्रगिरिः गीर्वाणेन्द्रेणाधीयतेऽयं तु तत्पूज्येन नृसिंहेनेति  
ततोऽस्य धन्यत्वं महत्त्वं चेति । अस्य स्तम्भस्य अम्भोनिधेरपि गभीरत्वेन दुष्प्रवेश-  
स्वरूपं गहनत्वमाह—वाम इत्यादिना । अयं स्तम्भः अम्भोनिधेः समुद्रादपि गहनः  
गभीरो वर्तते । यत्र यस्मिन् स्तम्भे जगन्निवासविहितः श्रीविष्णुकृतः निवासोऽ-  
स्ति । अग्रेभ्यश्च स एव स्तम्भः नृसिंहाचलशब्देन गहनस्तम्भशब्देन च व्यपदि-  
श्यते व्यपदिश्यते यस्माद् विष्णुराविरासीत् ।

अयं भावः—चातुर्मासिकं निद्रामवेक्षमाणेन भगवता अम्भोनिधिरूपं निर्मलिक  
स्थान शयनार्थमाश्रीयते इति पुराणादिप्रसिद्धम् । अयन्तु स्तम्भो अम्भोनिधेरपि  
गहनो यतो अम्भोनिधि परित्यज्य स्तम्भारम्भकालात् शयानो भगवान् द्विरप्यक-  
शिपुकोलाहलेन प्रह्लादे कृष्णया प्रतुड इति ।

जने अग्र मार्गेषु तमेकं प्रह्लादम् एव अम्बरमदामपि देवानामपि मान्यतममाद-  
णीयतम मन्ये अवेमि । यः प्रह्लादः त तादृशम् अच्युतं श्रीविष्णुमन्तु. स्वहृदये दधार  
धारयामास । तस्यैवानन्यभक्तत्वात् । य सर्वदा तमेव हृदये धारयामास स  
प्रह्लादः नूनं देवानामपि मान्यतम एव । स्थावरेषु अचलरूपः गुरुतमः स स्तम्भः  
सर्वेषामपि गिरीणां सर्वेषामपि समुद्राणां गहनतमश्च वर्तते । यस्मात् विष्णुरावि-  
र्बभूव, जहमेषु मनुष्यादिषु च स प्रह्लादः देवानामपि मान्यतमः योऽन्तरात्मनि तं  
श्रीविष्णुं दधारति भावः ॥ १० ॥

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये प्रथमोच्छ्वासः ।

देवेन्द्र के विशाल पर्वत से भी विशाल वह नृसिंहाचल धन्य है, जो साक्षात् विश्वपालक विष्णु का उद्बहन कर रहा है । यह सागर से भी गहनतम वह स्तम्भ है, जहाँ जग-निवास ने अपना आवास बनाया । [ इनके साथ साथ ] मैं तो मनुष्यों के बीच प्रह्लाद ही एक ऐसा है, जिसको [ तारतमिक दृष्टि से देखने पर ] देवताओं में भी मान्यतम समझता हूँ ! कारण यह कि उसीने इस अच्युत को जैसा चाहिए उस रूप में अंतःकरण में धारण किया है ॥ १० ॥

नृसिंह चम्पूकान्य का यह प्रथम उच्छ्वास समाप्त ।



## अथ द्वितीय उच्छ्वासः

आसीद् दैत्यकुले हिरण्यकशिपुः प्रौढप्रतापोद्भुरस्  
तस्याभूद् भगवत्प्रियो गुणनिधिः प्रह्लादनामात्मजः ।  
दैत्येशस्तमपाठयत् स्वनिगमं नाङ्गीचकाराथ तम्  
विष्णोर्नाम विनेतरन्न किमपि प्रायः प्रतिज्ञातवान् ॥ १ ॥

आसीदिति—प्रौढप्रतापोद्भुरः प्रौढेन प्रकृष्टेन प्रतापेन तेजसा 'प्रतापस्तापते-जसोः' इति मेदिनी । उद्भुरः निर्भरः 'उद्धरो निर्भरे दृढे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । अनितेजस्वीत्यर्थः । हिरण्यकशिपुः हिरण्यकशिपुनामा प्रसिद्धो दैत्यविशेषः दैत्य-कुले दानवान्ववाये आसीत् चभूव । तस्य भगवत्प्रियः ईश्वरपरायणः गुणनिधिः गुणानां दयादाक्षिण्यादीनां निधिः आकरः प्रह्लादनामा आत्मजः सुनुः 'आत्मजस्त-नयः सुनुः' इति अमरः । अभूत् अजायत । अथ अनन्तरं प्राप्ते समये दैत्येशः दानवाधिपः हिरण्यकशिपुः तम् प्रह्लादं स्वनिगमं स्वनिश्चयं, स्वसिद्धान्तमित्यर्थः ॥ अपाठयत् अपीपठत् । किन्तु प्रह्लादः हिरण्यकशिपोः तं सिद्धान्तं नाङ्गीचकार न स्वीचक्रे, नानुमेने इत्यर्थः । स प्रह्लादः प्रायः बाहुल्येन विष्णोर्नाम विना विना भगवन्नामधेयमितरत् अन्यत् किमपि न प्रतिज्ञातवान् प्रतिजग्राहेत्यर्थः ॥ १ ॥

दैत्यवंश में अति तेजस्वी हिरण्यकशिपु नामक एक दैत्य था । उसके एक पुत्र था, जिसका नाम था प्रह्लाद । यह ईश्वरपरायण तथा दयादक्षिण्य आदि गुणों से युक्त था । दैत्येश हिरण्यकशिपु ने उस बालक को अपने ईश्वर-विरोधी सिद्धान्तों की शिक्षा दी, पर बालक ने उन्हें अङ्गीकार नहीं किया । विष्णुनाम के अतिरिक्त उसने और कुछ भी ग्रहण नहीं किया ॥

छंद—शार्दूलविक्रीडित है ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा कुपितः पितातिपरुषैर्वाक्यैः सुतं त्रासयन्  
 स्नेहाद्वैरपि तत्प्रलोभनपरैः भूयः समाश्वासयन् ।  
 तं दृष्ट्वा दृढनिश्चयं पुनरसौ निर्विण्णचेताः परं  
 भृत्यानात्मजयातनार्थममरारातिदिदेशाचिरम् ॥ २ ॥

नष्ट वनि—पिता प्रह्लादजनको हिरण्यकशिपुः तत् श्रुत्वा प्रह्लादः विष्णुनामै-  
 तत् किमपि न मनुते इति दैत्येभ्य आकर्ण्य क्रुद्धः सन् कदाचित् अतिपरपैः अति-  
 क्रोदोः वाक्यैः सुत प्रह्लाद त्रासयन् उद्वेजयन् कदाचित् तत्प्रलोभनपरैः तत्प्रतारण-  
 परैः स्नेहाद्वै प्रेमोद्वै वाक्यैः भूसो मुहुः समाश्वासयन् सान्त्वेन स्वसिद्धान्तं बोध-  
 यन् । समाश्वासयते समाश्वासनकरणकं बोधनेऽत्र लक्षणा । एवं बोधयन्सद्यपि  
 तं प्रह्लाद पुनः दृढनिश्चयः समाश्वासनोत्तरकालेऽपि अवलचित् स्थिराध्यवसाये वा  
 दृष्ट्वा ज्ञात्वा परम अतिशयेन निर्विण्णचेता विघ्नहृदेयः अमरारातिः मुरारिः असौ  
 स हिरण्यकशिपु भृत्यान् स्वकर्मकरान् आत्मजयातनार्थं स्वपुत्रपीडार्थं प्रह्लादं  
 क्लेशयितुमिन्द्रार्थः । दिदेश आज्ञापयामासेत्यर्थः । दिदेश इति 'दिश अतिमज्जने'  
 इति धातोर्लिटि रूपम् । घानूनामनेकार्थत्वात् अनुपसृष्टोऽपि दिशिराज्ञार्थं वर्तते ।  
 'निर्विण्णो विपण्णे दुःखिते' इति शब्दार्थचिन्तामणिः ।

इम बात को सुनकर क्रुद्ध पिता हिरण्यकशिपु कभी तो निष्कृष्ट एवं क्रूर वाक्यों से  
 उसे धमकाता तथा कभी विभिन्न प्रकार के प्रलोभन-पूर्ण एवं स्नेहासिक्त वचनों का प्रयोगकर  
 साम-जीति से उसे अपना सिद्धान्त समझाता । इन उपायों के बावजूद जब उसने बापक  
 को अपने निश्चय से हटाने न देगा, तब अन्त में शमे अत्यधिक निर्वेद हुआ और फिर  
 इस देव-शत्रु ने अपने शत्रुओं को मद आदा दी कि वे सब उसके पुत्र को पर्याप्त  
 यातना दें ॥ २ ॥

दैत्यः—

अहो सचिवाः ! साम्प्रतं विपक्षपक्षमाश्रितः पुत्राधमोऽयमुदरोत्पन्नो  
 व्याधिरिव तरुसद्वृक्षमुत्पन्नो दायाभिरिवास्मन्नाशहेतुः कुलधूमकेतुरिवो-  
 दित आस्ते । तस्मादयमग्नौ बह्यः, सलिले क्लेशनीयः, शस्त्रैर्घातनीयः,  
 शूलतटान् घातनीयस्तथा यथा दुःशीलतामसून् वा जह्यात् । ततो भर्तुर्य-  
 थादेशं यातनाप्रियं नीतस्य शिशोर्दाहनादिषु नृहरिस्वरूपमभिध्यायतो  
 रोमापि न वक्रमासीन् ।

अहो इति—अहो सचिवा हेहो मन्त्रिणः साम्प्रतम् एतदि पुत्राधमः निवृष्टपुत्रः  
 अयं प्रह्लाद विपक्षपक्षं दायावर्गम् आश्रितः अधिष्ठितः अस्तीति शेषः । अतः उदरो-  
 त्पन्न उदराज्जातः व्याधि पीडये तरुणां वृक्षाणां मघहात् संघर्षगात् उत्पन्नः

उद्भूतः दावाग्निः वनाग्निः इव अस्माकं नाशस्य विनाशस्य हेतुः निदानं कुलधूम-  
केतुः वंशविनाशकः उत्पातविशेषः वह्निर्वा उदितः उत्पन्नः अस्ति । 'धूमकेतुः  
उत्पातविशेषे वह्नौ ग्रहप्रभेदे वा' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । व्याधिः स्वनाशहेतुत्वे  
दृष्टान्तः दावाग्निश्च कुलनाशहेतुत्वे । तस्मात् अयमसौ तथा अग्नौ वह्नौ दाह्यः  
दग्धव्यः सलिले वारिणि क्लेदनीयः मज्जनीयः शस्त्रैः हेतिभिः घातनीयः घात-  
यितव्यः शैलतटात् पर्वतसानुतः पातनीयः निपातनीयः यथा येन अयं दुःशीलतां  
स्वीयमिदं दौःशील्यम् असून् प्राणान् वा जह्यात् त्यजेत् । दाह्यः इत्यत्र 'ऋहलो-  
र्ण्यत्' इति ण्यत् । ततः तदनन्तरं भर्तुः स्वामिनः यथादेशम् आदेशम् आज्ञाम्  
अनतिक्रम्य यातनाविषयं पीडागोचरत्वम् । अत्र विषयशब्दो भावप्रधानो निर्दि-  
श्यते । द्वयेकयोरित्यादिवत् । नीतस्य प्रापितस्य अस्य प्रह्लादस्य शिशोः दहनादिषु  
वह्न्यादिषु सर्वेष्वपि भूतेषु नृहरिस्वरूपं विष्णुरूपं चिन्तयतः ध्यायतः पश्यतो वा  
न रोमापि लोमापि वक्रम् आसौत् न तस्य किञ्चिच्छिन्नमित्यर्थः ॥

हे मन्त्रि-वृद्ध ! इस समय यह अधम पुत्र कुल-परम्परा के विनाशार्थ धूमकेतु की  
तरह उदित हुआ है । इसकी स्थिति वही है जो अपने ही उदर से उत्पन्न व्याधि की  
होती है । जिस प्रकार वृद्धों के संवर्ष से उत्पन्न होने वाली अग्नि वृद्धों का ही सर्वनाश  
कर देती है, उसी प्रकार मुझ से ही उत्पन्न हुआ यह बालक मेरे ही नाश का बीज बन रहा  
है । अतः यह इस प्रकार अग्नि में जला दिया जाय, जल में डुबो दिया जाय, शत्रुओं से  
मारा जाय, तथा शैलतट से गिराया जाय, जिससे या तो यह अपना दुःस्वभाव ही  
परित्याग दे, अथवा प्राणों से हाथ धो बैठे । पश्चात् स्वामी की आज्ञा के अनुसार विभिन्न  
प्रकार की यातनाओं को सहन करते हुए भी उस बालक का, जो दाहन आदि क्रियाओं में  
निरन्तर नृसिंह का ध्यान करता रहा, एक बाल भी बँका न हो सका ॥

कीलालं स्थलतां स्थलं च जलतां वैश्वानरः शीततां

पीयूषत्वमगाद् विषं च विषमं बालस्य तस्यापि ।

नित्यं संस्मरतां सतां हृदि कृपाकूपारमीशं हरिं

विश्वव्यापिनमूर्जितं च कुशलं कस्मादसम्भावितम् ॥ ३ ॥

कीलालमिति—तस्य बालस्य प्रह्लादस्येत्यर्थः । आपदि भर्तुनिदेशेन भृत्यादिभिः  
वह्निदाहादिविपत्तौ, कीलालं पयः 'कीलालं रुधिरं तोये' इति मेदिनी । स्थलतां  
मरुत्वम् आगात् प्रापत् । स्थलं च मरुश्च जलतां सलिलत्वम् आगात् । एवं वैश्वा-  
नरोऽग्निः शीतता शैत्यं, विषमं विषं गरलं च हालाहलं पीयूषत्वममृतत्वमगात् ।  
'पीयूषं सप्तदिवसावधि क्षीरे तथामृते' इति मेदिनी । हृदि स्वात्मनि कृपाकूपारम्  
कृपायाः दयायाः अकूपारं सागरम् 'दत्पलादावकूपारः कूर्मराजे महोदधौ' इति  
मेदिनी । विश्वव्यापिनञ्च । चो भिन्नक्रमः । ईशम् ईश्वरं तं हरिं विष्णुं नित्यं सततं

संस्मरतां ध्यायतां सतां मज्जनानां कस्मात् कस्य हेतोः ऊर्जितं प्रवृद्धं सर्वोद्दृष्ट-  
मित्यर्थः । कुशलमनामयं वार्ता वा असम्भावितम् न भवितुमर्हदित्यर्थः । तेषां सर्व-  
देव सर्वमेव भङ्गलं भवतीति भावः । सर्वान्तर्यामिण विष्णुं ध्यायतां सततं कुशल-  
स्यैव संभवात् । 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् । जन्ममृत्युमराव्याधि-  
भयं नैवोपजायते' इति स्मरणादित्यर्थः ॥ ३ ॥

इमं बालक के लिए इन आपत्तियों में जल स्थल हो जाता और स्थल जल, अग्नि  
प्रीति हो जाती और विष अमृत । असल में विश्वरूपापन, ऊर्जस्वी एवं कृपा-सागर भगवान्  
विष्णु का निरन्तर हृदय में स्मरण करने वाले सज्जनों का बलवान् क्या सभी अन-  
म्भाधिन है ? ॥ ३ ॥

अहो मूर्खा मर्त्याः शृणुत हृदयस्थे नरहरौ

तदुद्भूतैर्भूतैर्मम किमपकारः प्रभवति ।

हरेरेछत्रीभूते शिरसि भुजगानामधिपतौ

भुजङ्गैरुत्तुङ्गैर्मम किमु भयं सम्भवति वा ॥ ४ ॥

अहो इति—अहो रे मूर्खाः मूढाः अतत्त्वार्थदर्शिन इत्यर्थः । मर्त्यां मरण-  
धर्माणो मनुजाः । शृणुत आकर्णयत । नरहरौ नृसिंहे पिप्प्लौ मम हृदयस्थे चित्ता-  
न्तर्वर्तिनि सति तदुद्भूतैः तस्मात् हरेरेव उद्भूतैः जातैः मम ( तद्रक्तस्य प्रह्ला-  
स्य ) सर्वेषामेव भगवद्भक्तानामित्यर्थः । किम् कश्चित् अपकारोऽस्मङ्गलं प्रभवति  
भवितुमर्हति । नेत्यर्थः इति यावत् । भुजगानाम् अधिपतौ शेषनागे सर्पराजे हरे-  
शिरसि मूर्धनि छत्रीभूते आतपत्रिते सति उत्तुङ्गैः उन्नतरपि भुजङ्गैः सर्पैः मम किमपि  
किञ्चनापि भय नासौ वा, अत्र वा शब्दोऽपकारस्य समुच्चायकः । सम्भवति संभ-  
वितुमर्हति । न कदाचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

हे मूर्खों ! विनश्वर जन्तुओ ! सुनो, जब तक भगवान् नरसिंह मेरे अन्तःकरण में  
विराजमान हैं, तब तक उन्हीं से उद्भूत हुए तुम्हारे जैसे प्राणियों से मेरा क्या अपकार  
हो सकता है ! जब तक भुजगपति शेषनाग भगवान् विष्णु के शिर पर आतपत्र से बने  
हुए हैं, तब तक इन उठे हुए पत्तों वाले सर्पों से क्या मुझे भय हो सकता है ? ॥ ४ ॥

मन्मातुरिन्द्रियायां किमु न ज्ञातं सहोदरं गरलम् ।

मातुलतामुपयातान् तस्मादस्मासु किं भयं भवति ॥ ५ ॥

मन्मानि चि—किमु किम् गरलं मन्पित्रा मन्मारणार्थं प्रयुक्तं विषं मन्मातुः मम  
जनन्या इन्द्रियायाः लक्ष्म्या पिप्प्लुपन्या इति यावत् । सहोदरं सौदर्यं न ज्ञातं  
नावगतं मूर्धेरिति शेषः । धीपिप्प्लुः मम पिता, अतः लक्ष्मीस्तत्परनीत्येन मम  
माता वर्तते । तथा सार्धमुत्पन्ना विषादयः सर्वेऽपि मम मातुः सौदर्यां पृथेति ततो

मम कथं विपत्तिर्भवितुमर्हति इति भावः । एतेन सम्बन्धेन मातुलतामातुलत्वं मातृ-  
भ्रातृत्वम् उपयातात् उपगतात् तस्माद् विपात् अस्मासु अस्माकमित्यर्थः ( औप-  
श्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमी । कुण्डे वदरमितिवत् । अस्मन्निष्ठविपादिहेतुकं भयमि-  
त्यर्थः ) किं कथं भयं भवति । भयसम्भावना न कथंचिदपि वर्तते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इह मूर्खो ने क्या यह नहीं समझा कि यह विप मेरी माता विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का  
सगा भाई है ! भला इस मामा से मुझे क्या भय होगा ? ॥ ५ ॥

ततोऽमात्यवर्गैर्दैत्यराजमागत्य स्वसमुचितं समूचे । स्वामिन् !  
महादिदमाश्चर्यमस्माभिरनुभूतं यदर्भकोऽयं ज्वलनज्वालाभिरदाहः, कीला-  
लैरक्लेद्यः, शस्त्रैरच्छेद्यः गरलैरविकलाङ्गः । तस्मादधुना यातनाभिरलं,  
सामप्रकारेण यत्नोऽस्त्विति । ततः सुरारातिरपि प्रह्लादस्य सवयसः दैत्य-  
पुत्रानाहूय तानित्यादिदेश । रेः सुशीलाः शिशवः ! अस्मदर्भकस्य दुरा-  
त्मनः मनोगतमवधार्य तं च स्वशीलमुपदिशन्तु ।

ततस्तदोमिति दैत्यपुत्राः प्रह्लादमुपदेष्टुमुपक्रमं चक्रुः । अहो सर्वे  
सवयसः ! श्रूयतामिदमपूर्वं यत्पूर्वजानुष्ठितमध्वानमपहाय सर्वज्ञस्य पितु-  
खन्नामयशश्चाविगणय्य विविधदुरन्तयातनोद्भवदुःखमनुभूय सारासार-  
विचारविधुरत्वेन यत्किंचित्कुर्वता प्रह्लादेन किमधिकमसाधि । तस्माद-  
स्माभिः सर्वैः सहेतुकैर्वचनैरुपदेष्टव्यो यथा दुष्टाशयं परिहाय स्वमार्गमा-  
श्रयेदित्येवं सम्प्रधार्य प्रह्लादमवोचुः ।

तत इति—ततः तदनन्तरं दैत्यराजमागत्य अमात्यवर्गैः मन्त्रिवृन्दैः स्वसमुचितं  
स्वानुरूपं समूचे वच ऊचे । स्वामिन् ? प्रभो ? अस्माभिः इदं महत् आश्चर्यमनु-  
भूतम् । यत् अयम् अर्भकः ज्वलनज्वालाभिः दहनार्चिभिः अदाहः दग्धुमशक्यः  
कीलालैः जलैः अक्लेद्यः आर्द्रयितुमशक्यः शस्त्रैरायुधैः अच्छेद्यः छेत्तुम् अशक्यः  
गरलैर्विषैः 'गरलं तृणपूले च विपे माने नपुंसकम्' इति मेदिनी । अविकलाङ्गः न  
विकलानि ऊनानि विह्वलानि वा अङ्गानि अवयवा यस्य स तादृशो वर्तते । 'त्रिकल  
ऊने विह्वले' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । तस्माद् अतो हेतोः अधुना एतर्हि यात-  
नाभिः पीडाभिः अलम् न किञ्चित् साध्यम् । सामप्रकारेण सान्त्वयचनेन यत्नः  
प्रयासः अस्तु भवेत् । कर्तव्य इत्यर्थः । ततः तदनन्तरं सुरारातिः दैत्यः प्रह्लादस्य  
सवयसः समानवयसः दैत्यपुत्रान् आहूय आकार्यं तान् इति इत्थम् आदिदेश  
आज्ञापयामास । रे ! अहो ! सुशीलाः सुस्वभावाः शिशवोऽर्भकाः ! दुरात्मनः  
दुष्टस्य अस्माकम् अस्य अर्भकस्य ( प्रह्लादस्य ) शिशोः मनोगतं चित्तान्तर्गतं  
चित्ताभिप्रायम् अवधार्य ज्ञात्वा, पूर्वं तदभिप्रायं निश्चित्येत्यर्थः तं स्वशीलं स्वामि-

प्रायम् उपदिशन्तु योधयन्तु । तत तदनन्तरं हिरण्यकशिपुवाक्यानन्तरं दैत्यपुत्रा  
 ओम् आमिति उक्त्वा स्वाकृत्येति शेष । प्रह्लादमुपदेष्टुम् उपक्रमम् उद्योग  
 चक्रुः अकार्षुः । कथमुद्योगमकार्षुरित्याह—अहो ! ह हो ! सर्वे समे सवयस  
 समानवयस इदम् अपूर्वम् अद्भुतवस्तु इति शेष, श्रूयताम् यत् पूर्वजानुष्टिनम्  
 पूर्वजैः अस्माकं पितृपितामहप्रभृतिभिः अनुष्टिनम् अनुसृतम् अध्वानम् वरम्  
 अपहाय त्यक्त्वा सर्वज्ञस्य पितु अवज्ञाम् अवमानम् अयशो अकीर्तिम् च भवि  
 गण्य अत्रिचार्य विविधदुरन्नयातनोद्भवदुःखम् विविधाम्य अनेकाम्य दुरन्ता  
 म्यश्च दुस्स्वकाम्यो दुरवसानाम्यो वा यातनाम्य पीडाम्य उद्धवम् उत्पन्नं दुःख  
 अनुभूय सारासारविचारविधुरत्वन सारासारयो तत्वातचययो विचारे त्रिके  
 विधुर विरुल तस्य भाव तेन सारासारविचाररहितत्वादित्यर्थ । यत् किंचिद-  
 ननुष्टेयं कर्म कुर्वता प्रह्लादेन किम् अधिकम् असाधि साधितम् । इदानीं यावत्  
 विष्णुभक्तिपरायणेन तन अम्मत्तोऽधिकं न किंचिदुपार्जितमिति यावत् । तस्मात्  
 अस्माभिः सर्वेऽपि मिलित्वा इदानीं सहेतुकैः सुच्युक्तैः स प्रह्लाद उपदेष्टव्य-  
 प्रबोधनीय । अत्र तथेति शेष अत्रे यथेति वक्ष्यमाणत्वात् । यथा स दुष्टाशय  
 निजमिदं विष्णुभक्त्यात्मकं दुरभिप्रेतमपहाय परित्यज्य स्वमार्गं पितृपितामहपर-  
 म्पराप्राप्त स्वमार्गम् आश्रयेत् इत्येवमित्थं सगप्रचार्य निश्चित्य ते सर्वे प्रह्लादमबोचुः  
 ऊचिरे । अबोचुरिति अबोपसृष्टस्य ब्रूञो लिट् रूपम् ।

इसके अनन्तर अमात्यवर्ग ने दैत्यराज के सनीप जाकर यथोचित निवेदन किया—  
 स्वामिन् । हम लोगों ने विचित्र आश्चर्य अनुभूत किया, कि यह बालक आग की लपटों से  
 नहीं जलाया जा सकता, जल में नहीं डुबाया जा सकता, शस्त्रों से नहीं घातित किया  
 जा सकता, विष से हमके अङ्गों में कोई विरति नहीं उत्पन्न की जा सकता, अतः हो भुग-  
 यातना का प्रयोग अब माम नीति का ही महारा लाजिये । पश्चात् इस देवशत्रु ने  
 प्रह्लाद के समवयस्क साधियों को बुलाकर यह आदेश दिया—अरे सुशील बालक !  
 हमारे दुष्ट बालक के मनोभावों को परम कर [ जेने हो ] अपने समान आचरण का  
 उपदेश करो । हम पर उन सब ने स्वीकृतिसूचक शब्द का प्रयोग किया और उन दैत्य  
 पुत्रों ने प्रह्लाद को उपदेश देने का उद्यम किया ।

ह साधियो ! यह विलक्षण बात आप लोग सुनें कि अपने पूर्वजों के आचरित मार्ग का  
 परित्याग कर, सर्वज्ञ पिता के विराट् स्व अयश की ओर से विमुक्त हो नाना प्रकार के  
 दुःखमय परिणाम पैदा करनेवाली यातनाओं का अनुभव कर, मार एवं असार के विचार  
 में पराजित हो, मनमाना कुट्ट का कुट्ट करनेवाला प्रह्लाद ने क्या पा लिया ! अतः  
 हम सब का कर्तव्य है कि सुचिन्तन वचनों से उसे ऐसा उपदेश दें जिससे कि वह कुन्ति  
 विचार का परित्याग कर अपने परम्परागत आचार का आग्रह करे—देमा निश्चय कर उन  
 सब ने प्रह्लाद से कहा ।

पितुर्वृत्तं धत्ते तदनु जनकानन्दजनकः

सुशीलोऽप्यादत्ते सपदि पितुराज्ञां स्वशिरसि ।

सखे ! पुत्रः श्लाघ्यः समजनि गुणालंकरणतां

न सन्त्येवं पुत्राः किमु पशुतिरश्चामितरथा ॥ ६ ॥

पितुरिति—हे सखे ! प्रह्लाद ! स पुत्रः श्लाघ्यः प्रशंसनीयो भवति स एव च गुणानामलङ्करणतां भूषणतां भजति । गुणा एव अलङ्करणानि भूषणानि यस्य तस्य भावस्तत्ता तां गुणालङ्कृतत्वं भजते इत्यर्थः । स एव सुशीलोऽपि यः पितुर्वृत्तमाचरणं धत्ते । आचरणेन पितरमनुसरतीत्यर्थः । यश्च पितुराज्ञां सपदि शिरसा आदत्ते गृह्णाति धारयति स्वीकरोतीत्यर्थः । यश्च तदनु पित्राज्ञास्वीकारानन्तरं तत्सम्पादनेन जनकानन्दजनकः पितुः प्रमोदहेतुः । इतरथा अन्यथा किमु इति प्रश्ने, एवं भवादृशाः पित्राज्ञापरिपालनेऽद्वैतद्वयः पशूनां गन्धादीनां तिरश्चां पक्षिणां च पुत्रा न सन्ति अपि तु सन्त्येव । पित्राज्ञाकारिण एव यथार्थतः पुत्रा नेतरे इति भावः ॥ ६ ॥

हे सखे प्रह्लाद ! वही पुत्र प्रशंसनीय होता है, उसी के गुण शोभापायक होते हैं, वही सुशील भी कहा जाता है, जो अपने पिता के आचरण को कार्यान्वित करता है, अर्थात् जो आचरण की दृष्टि से पिता का अनुत्तरण करता है, जो पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करता है और तदनन्तर उसका सम्पादन करता हुआ अपने पिता को आनन्दित करता है । अन्यथा यों तो मनमाना आचरण करने वाले पुत्र पशुओं एवं पक्षियों के भी होते हैं; फिर उनसे आप की विशेषता क्या ? ॥ ६ ॥

छन्द—शिखरिणी ॥ ६ ॥

प्रह्लादः—

तातास्तावदमी समीरणचलस्नेहाः सुतानां मुदे

यावन्नेह पिता पितामहपिता संप्राप्यते भाग्यतः ।

तावद् दीपशिखाप्रकाशवशां विश्वं क्षणं मोदते

यावल्लोचनगोचरो न भवति प्रातर्निधिस्तेजसाम् ॥ ७ ॥

ताता इति—समीरणचलस्नेहाः समीरणवत् वायुवत् चलः चञ्चलः स्नेहः चात्सल्यं येषां ते अमी ताताः सांसारिका इमे पितर इत्यर्थः । तावदेव सुतानां पुत्राणां मुदे प्रसन्नतायै जायन्ते इति शेषः । यावत् इह जन्मनि भाग्यतः सौभाग्यवशात् पिता पितामहपिता-पितामहस्यापि पिता अनादिकालतः परम्पराप्राप्तः स वास्तविकः सर्वेषां पिता परमात्मा न प्राप्यते न लभ्यते । दीपशिखायाः प्रदी-  
पार्चिषः प्रकाशस्य वशां वशवर्ति इदमदो विश्वं जगत् क्षणं स्वल्पकालं तावदेव



मोदते हृष्यति यावत् तेजसां निधिः अर्कः प्रातः प्रभातवेलायां लोचनगोचरो न भवति नोदेति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रसाद का उत्तर है—

वायु के समान अस्थिर स्नेह रखनेवाले ये सामारिक पिता तभी तक अपने बाप्यों के सुसार्थ होते हैं जब तक कि सौभाग्यसे सबका पिता परमात्मा नहीं मिलता । दीपशिखा से उत्पन्न होनेवाले प्रकाश का सहारा लेकर यह ससार उनसे ही समय तक प्रसाद लाभ करता है जब तक प्रातःकाल तेजोनिधि दृष्टिगोचर नहीं होते ॥

धृन्द्—शार्दूलविक्रीडित । अलङ्कार—दृष्टान्त ॥ ७ ॥

अगस्त्योऽभूत् कुम्भात् कथयत किमम्मो बहति या  
न किं लोके श्लाघ्यः तदनु कलशोऽनेन मुनिना ।

अभूद् रम्भागर्मादतिसुरभिकर्पूरपटलं

तदादत्ते पर्णान्यथ च किमु रम्भां स्थगयति ॥ ८ ॥

नहि निर्गुणयोर्जडजडाश्रययोर्मातापित्रोर्वृत्तानुसरणं सगुणस्य दुग्धस्य लोके दृष्टं प्रस्युत तादृशपुत्रजन्मना तथाभूतयोरपि तयोर्लोके आदरो दृष्ट इत्याह—

अगस्त्य इति—अगस्त्य, तन्नामा प्रसिद्धो महर्षिः, कुम्भात् कलशात् अभूत् अजायत । हे दैत्यशिखः ? कथयत इदं तु वदत स अगस्त्यमुनिः किम् अम्मो जलं बहति ? न बहतीत्यर्थः । कलशयोनिरपि भूत्वा स जलं न बहति । तथापि तदनु अगस्त्यसम्मम्वानन्तरम् अनेन मुनिना अगस्त्येन कलशजातेन लोके जगति कलशो घटः जडाश्रयोऽपि न श्लाघ्य किम् ? प्रशस्य ण्येति भावः । रम्भायाः कदल्या गर्भात् मध्यात् अतिसुरभि अतिसुगन्धि कर्पूरपटल घनसारनिचयः अभूत् । तत् कर्पूरपटलं पर्णानि आदत्ते किमु, नैवेत्यर्थः । अथ च तथापि लोकोऽति-सुरभि कर्पूरपटलं गौरवेण तन्मातृभूतामतिजडामपि रम्भां स्थगयति पिघत्ते । पिघानेन तस्या आदरं करोतीत्यर्थः । एवं जडजडाश्रययोरपि मम मातापित्रोर्मदीयविष्णुमक्तिगुणगौरवेण लोके पूजा भविष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

और जहाँ तक माना-पिता के अनुसरण की बात है, वह निर्गुण माता पिता के सम्बन्ध में नहीं है, [ देखो ] महर्षि अगस्त्य की उत्पत्ति कुम्भ से हुई, पर क्या वे [ अपने पिता के समान ] जल बहान करते हैं ? नहीं; फिर भी हम महर्षि के कारण बाद में उस निर्गुण कलश की भी प्रशंसा नही हुई ? इसी प्रकार रम्भा ( केला स्तम्भ ) के गर्भ से अति गन्धपूर्ण कर्पूर की उत्पत्ति हुई है; क्या वह अपनी माता के समान पत्र धारण करता है ? नहीं, शनैः ही नहीं, कर्पूर के नामसे रम्भा को समार दँक देता है ।

धृन्द्—शिलरिणी ॥ ८ ॥

अपि च—

जीवास्तावत् स्वकर्मनिर्मितानेकविचित्रयोनिषु चिरं भ्रमन्तः प्रति जन्म परस्परं पितापुत्रतां प्रपद्यन्ते एव । तत्र तत्र तज्जातिवर्णाश्रम-धर्माभिमानेन यावज्जीवं वर्तमानाः शनैर्देहभोगं समाप्य विधिवशाद्-स्माद् विपद्यन्ते । तथा च कैः केषामुद्भृतिरिति निश्चयेऽपि तन्माया-ग्रस्ताः पुनर्मोहमेवानुसरन्ति ।

जीवा इति । जीवाः स्वैः स्वैः कर्मभिः निर्मितासु स्वकर्मानुरूपं प्राप्तासु अने-कासु विचित्रासु योनिषु चिरं भ्रमन्तः परिभ्रमन्तः सन्तः प्रतिजन्म जन्मनि जन्मनि परस्परम् अन्योन्यं पितापुत्रतां प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्त्येव । तत्र तत्र तासु तासु विचित्रासु योनिषु ब्राह्मणक्षत्रियादितत्तद् वर्णाभिमानेन ब्रह्मचर्यादितत्तदाश्रमाभि-मानेन च यावज्जीवं जीवनपर्यन्तं वर्तमाना विद्यमानाः शनैः देहभोगं शरीरभोगं समाप्य विधिवशाद् अस्माद् देहात् विपद्यन्ते वियुज्यन्ते त्रियन्ते इति यावत् । तथा कैः कर्मभिः केषां जीवानामुद्भृतिः उद्भरणमिति निश्चयेऽपि निर्णयेऽपि तन्माया-ग्रस्ता तस्य विधेः मायया ग्रस्ताः भगवतो माययाऽपहतज्ञानाः पुनः भूयोऽपि मोहमेवानुसरन्ति पितृभक्त्या ममोद्धार इति पुत्रस्य मोहः, पुत्रकृतपिण्डदानादि-क्रियया च ममोद्धारः इति पितुर्मोहस्तं परस्परं प्राप्नुवन्तीति भावः ।

और भी—

जीवान् अपने अपने कर्म के फलस्वरूप अनेकानेक विचित्र योनियों में अनादि काल से भरमाते हुए जन्म जन्म में पिता-पुत्र-भाव को परस्पर प्राप्त होते रहते हैं । और फिर उस उस योनि में अपनी जाति एवं वर्णाश्रम धर्म के अभिमान से चूर हो होकर जीवन भर धीरे धीरे प्रारब्ध भोग को समाप्त कर देवात् इस शरीर से विच्छिन्न हो जाते हैं । और यद्यपि यह बहुत ही स्पष्ट हैं कि किन कर्मों से किसका उद्धार हो सकता है, तथापि परमात्मा की माया के चंगुल में फँसा हुआ लोक पुनः पुनः मोह को प्राप्त होता रहता है ।

अपरे तु—

यं सखे स्मरसि सोऽस्ति को हरिः किं प्रयोजनमनेन हन्त ते ।

राज्यभोगमपहाय शाश्वतं यातना कथमथानुभूयते ॥ ६ ॥

यनिनि । हे सखे ! यं हरिम् अनन्यमनाः त्वं स्मरसि चिन्तयसि ध्यायसि स ते हरिः कः कीदृशो वर्तते । हन्त ? वत ? अनेन हरिणा ते तव किं प्रयोजनम् किं फलं चिन्तयमानेन साध्यते । शाश्वतं सार्वकालिकं राज्यभोगम् आधिपत्यसुखं परि-त्यज्य कथं यातनाक्लेशोऽनुभूयते ॥ ९ ॥

अन्य दैत्यशिशुओं ने कहा—

हे सखे ! जिस हरि का तुम एकचित्त होकर स्मरण किया करते हो वह तुम्हारा ही  
कैसा है ! इससे तुमको देना देना क्या है ! इस आदवत राज्यभोग का परित्याग कर क्यों  
[ अकारण ] यातना का भोग कर रहे हो ?

ध्वन्द—रघोदता ॥ ९ ॥

अपि च—

दुर्बलं नरशरीरमीदृशं तत्पुनर्गुरुगदाधिवर्जितम् ।

वैभवं जगति विस्तृतं सखे मृग्यतेऽथ किमतः परं त्वया ॥ १० ॥

दुर्बलमिति । पूर्वं तु नरशरीरम् नृदेह एव ईदृशमित्थं दुर्बलं कृशं वर्तते । तत्पुन  
सद्धरीरं यदि गुरुगदाधिवर्जितं गुरुभिः महद्भिः राज्यस्मादिभिः गवैः रोगै  
वाधिभिः मानसीभिर्व्याभिः वर्जितं रहितं भवेदिति शेषः । जगति लोके विस्तृत  
मिति विपुलं वैभव घनधान्यादिकं भवेत् । अथानन्तरम् अतः परम् इतोऽप्यधि  
त्वया किं मृग्यतेऽन्विष्यते यदर्थं हरिः सेव्यते इति भावः । हे महाद ! प्रकृत्या  
मानवानां शरीरं दुर्बलं भवति, किन्तु यदि तत् रोगैः मानसव्याभिश्च रहित  
प्राप्येत । अथ च विपुला सम्पदवाप्येत सदा सतोऽधिकं किं मार्तण्डाय भुंसः । तस्यै  
सत् त्वया सर्वमपि सुलभमतः त्वया हरिः किमिव्याराप्यते ॥ १० ॥

और भी,

यह मानव शरीर, जो नितान्त दुर्बल है, यदि कहीं वह राज्यरुमा जैसे दुरन्त रोगों  
एवं मानसी व्यथाओं से रहित हो जाय और उस पर भी यदि इस संसार में अथार  
वैभव प्राप्त हो जाय, [ तो इसे त्यागकर ] हे सखे ! तुम और इससे अधिक क्या प्राप्त कर  
सकोगे जिसकी खोज कर रहे हो ? [ हरि की उपासना से क्या मिल जायगा ! ]

ध्वन्द—रघोदता ॥ १० ॥

प्रह्लादः—

आत्मानं स्वशरीरमेव मनुते मुक्तिं सुषुप्तिं पराम्

आनन्दं विषयोपभोगभजनं विज्ञानहीनो जनः ।

देहं मूत्रपुरीषपूरितमसौ नो वेत्ति निद्रां पुनः

चित्ताभ्रान्तिमयं विरामसमये शोकप्रदान् गोचरान् ॥ ११ ॥

आत्मानमिति । विज्ञानहीनः विदिष्टं ज्ञानं विलक्षणं ज्ञानं चाऽनुभवरूपं तत्त्व-  
साक्षात्कारस्तद्वदितः अज्ञः जनः स्वशरीरमेव आत्मानं मनुते जानाति । देह-  
व्यतिरिक्तं सच्चिदस्वरूपम् आत्मानमयं नैव वेत्तीत्यर्थः । सुषुप्तिमेव, सर्वविषय-  
ज्ञानरूपां निद्रामेव । शोभना सुप्तिः सुषुप्तिः सा चाज्ञानरूपैव सुषुप्तमभि-

आहारात् । तां सुपुष्टिं, परां मुक्तिं, सालोक्य्यादिरूपाऽपरा मुक्तिस्तदपेक्षया प्रकृष्टा मुक्तिमपवर्गं मनुते । अज्ञाननाशरूपं ज्ञानसारूप्यं नेत्यर्थः । विषयाणां अज्ञाननादिविविधपदार्थानाम् उपभोगभजनम् उपभोगः सुखसाक्षात्कारस्तद्भजनं तत्सम्पादनमित्यर्थः । आनन्दं वेत्ति । असौ अतच्चज्ञः सांसारिको जनः देहं मूत्रेण पुरीषेण विष्टया च पूरितं निर्भरं नो वेत्ति । यदि स इमं देहं मूत्रादिपुरीतं विद्यात् तर्हि ततो जुगुप्सेत न चैनम् आत्मानं प्रतीयात् । निद्रां चित्ताभ्रान्तिं चेतसो विषयेषु भ्रमणाभावम् अज्ञानमिति यावत् । चित्ताभ्रान्तिमिति त्वपपाठः । तदानीं चेतसो लयाभ्युपगमेन भ्रमणासम्भवात् । न वेत्ति । किंचायमज्ञानाधिमोहितधीः पुमान् गोचरान् विषयान् विरामसमये अवसाने परिणतौ वा शोकप्रदान् दुःखदायिनो न जानाति । अत एव तेषु आसक्तो भवति । 'गोचर इन्द्रियार्थं रूपशब्दगन्धस्पर्शरसस्वरूपे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः ॥ ११ ॥

प्रहाद का उत्तर है--

पारमार्थिक ज्ञान से वञ्चित रहने वाले ये सांसारिक जन अपने शरीर को ही आत्मा मानते हैं, सुपुष्टि को ही चरम मुक्ति समझते हैं । वे यह नहीं जानते कि यह शरीर मल-मूत्र जैसे गंदे पदार्थों से परिपूर्ण है, यह निद्रा केवल चित्त का विषयों से अधिक विच्छेद है । वे यह भी नहीं समझ पाते कि ये इन्द्रियगोचर पदार्थ अन्त में शोकदायी ही होते हैं ॥

छन्दः--शार्दूलविक्रीटित ॥ ११ ॥

अहो अहो महदज्ञानं जनानां यत् पुत्रकलत्रमित्रद्रविणविद्यावयो-  
भिर्वयमतिरूढाः इत्यहंकाराधिरूढाः केचिन्मूढाः स्वप्रौढिं नाटयन्तः शक्र-  
मपि न गणयन्ति । केचिदाचारचारुचरितैर्वयमध्वरकर्ममर्मकुशलाः इति  
दम्भसंभारसंभृताः पितामहमपि हेलयन्ति । केऽपि कृतान्तकलितकव-  
लायितकलेवरा अपि वयं प्रौढप्रतापचक्रवर्तिन इति स्वभुजगर्व भाप-  
माणा दानवाः स्वहितमजानन्तः रमारमणचरणपरिचरणपराङ्मुखाः  
संसरणमरणमालाकुलाः सीदन्ति । तत्र यूयं पुनर्वालिशाः सततमन्धपर-  
म्परापरिणतिप्रस्ता एव ।

अहो इति--अहो इति महाश्चर्यद्योतनार्थं पुनरुक्तिः । जनानामिदं महदज्ञान-  
विजृम्भणं यत् तेषु केचिन्मूढा 'वयं पुत्रैः तनयैः' कलत्रेण दारैः, मित्रैः सुहृद्भिः,  
द्रविणेन धनेन, विद्याया ज्ञानेन, वयंसा आयुषा च अतिरूढाः प्रवृद्धाः स्म' इति  
इममहङ्कारम् अभिमानमधिरूढाः आश्रिता सन्तः स्वप्रौढिं स्वोत्कर्षं नाटयन्तोऽभि-  
नवन्तः प्रदर्शयन्त इति यावत् । शक्रमिन्द्रमपि न गणयन्ति, इन्द्रमपि स्वस्मा-

दून मन्यन्ते इत्यर्थः । अपरे केचित् आचारचारचरिते आचारस्य स्नानाचमन-  
सन्ध्यावन्दनादिशास्त्रविहितव्यवहारस्य चारु सम्यक् चरिते अनुष्ठाने ययम् अत्र  
रकर्ममर्मकुशला अध्वरस्य यज्ञस्य कर्मण क्रियाया मर्मणि तत्त्वज्ञाने कुशला  
निपुणा स्म इति शेषः । इति इत्य मन्वाना दम्भस्य मिथ्याचारस्य सम्मारेण  
अतिशयेन सम्मृता सद्गता सन्त पितामहमपि ग्रहणमपि हेलयन्ति अचजानन्ति ।  
केऽपि इतरे केचन पुनः कृतान्तकलितकवलायितकलेवरा कृतान्तेन कीनाशेन  
कलितो गृहीतकवले ग्राम इति कृतान्तकलितकवलेस्तद्वदाचरित कलेवर शरीर  
येषां ते । अथवा एव विग्रहः—कृतान्तेन यमेन कलित घृत कवलायित ग्रामीकृत च  
कलेवर शरीर येषां ते । यमराजाध्वन्यध्वन्यभूता अपि इत्यर्थः । यय, प्रौढ प्रष्टुद  
प्रताप तेज यया ते, ते च चक्रवर्तिन इति इत्य स्वयोर्भुजयोर्बाह्वो गर्वमहङ्कार  
भापमाणा कथयन्त दानवा दैत्या स्वहितमजानन्त वास्तविक स्वहित पश्य-  
मजानन्त अजानाना रमारमणस्य श्रीविष्णो चरणयो पादयो परिचरणात् सेव  
मात् पराङ्मुखा ससरणस्य जन्मन मरणस्य मृत्योश्च मालया परम्परया आकुला  
स्थग्रा सीदन्ति दुःखभाजो भवन्ति । तत्रापि यूय पुनर्वाल्लिशा पुन आवृत्त यद-  
वाल्लिशात्वं मौढ्य तद्वन्तोऽस्तिमूढा स्थ ये सततमनारतम् अन्धपरम्पराया स्वपितृ-  
पितामहाचारप्राप्ताया विष्णुद्वेषरूपाया परिणत्या परिणामेन अनर्थन ग्रस्ता एव ।

अहो ! आश्चर्य है कि इन प्राणियों में कितना अज्ञान मरा है । पुत्र, पत्नी, मित्र,  
धन, विद्या एवं वन आदि से हम सब भरे-पूरे हैं—इस अहङ्कार की भावना से परिपूर्ण  
कुछ मूर्ख अपनी महत्ता का अभिनय करते हुए इन्द्र को मा कुछ नहीं समझते । कुछ  
लोगों की दशा यह है कि वे स्नान, संध्यावन्दनादि वेद-विहित कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान  
करने के कारण अपने को यह समझा करते हैं कि हम ही सब यत्कर्म के मर्मों को जानने  
वाले हैं—और हम प्रभार दम्माचरण से आनखशिव व्याप्त हो भद्रा की भी अवहेलना  
किया करते हैं । कुछ लोगों की स्थिति यह है कि यद्यपि जाका शरीर कृतान्त द्वारा गृहीत  
ग्राम से अधिक महत्त्व नहीं रखता, तथापि समझत यह है कि हम सब प्रौढ़ प्रताप के  
कारण चक्रवर्ती ही बने रहेंगे । इसी भावना में अपनी भुजाओं की शक्ति बपारते हुए ये  
दानव अपने पारमार्थिक कल्याण से सर्वथा अनभिग रह कर रमारमण की चरणमेवा से  
पराङ्मुख रहते हैं और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ हुए निरन्तर क्लेश का अनुभव  
करते हैं । इस स्थिति में फिर भी यह मूर्ख बालक अपनी मोहग्रस्त परम्परा से ग्रस्त  
दिखाइ पड़ता हैं ॥

ततो दैत्येशः प्रह्लादवाक्यैरप्रतिभान् दनुजानुनान् पित्राय स्वमुत सम-  
क्षमाहूय किञ्चिदान्निष्ठवान् ।

तत्र शति—ततस्तदनन्तर दैत्येशः स हिरण्यकशिपुः प्रह्लादवाक्यैः प्रह्लादस्य

कथनोपकथनैः दनुजानुजान् दानवभ्रातृन् अप्रतिभान् प्रतिभारहितान् प्रतिहत-  
बुद्धीन् विज्ञाय ज्ञात्वा स्वसुतं समक्षं प्रत्यक्षमाहूय आकार्यं निम्नप्रकारेण किञ्चित्  
किमपि आदिष्टवान् आदिदेश ।

इसके अनन्तर उस दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माद के कथोपकथन से अपने  
दानव भाइयों को निष्प्रतिभ समझ कर अपने पुत्र को सामने बुलाया और कुछ  
आदेश दिये ।

मदीयवशवर्तिनस्त्रिदशयक्षरक्षोगणाः

तथा भुजगभूभुजः सकलमानवा दानवाः ।

अभीप्सितफलप्रदो मदनुवर्तिनां वा नृणाम्

अहं हि जगदीश्वरः किमु न मां भजस्यात्मज ॥ १२ ॥

नदीयेति । त्रिदशानाममराणां यक्षाणां पुण्यजनानां 'यक्षः पुण्यजने' इति  
कोपः । रक्षसां राक्षसानां गणाः वर्गाः सकलाश्च दानवाः समग्रा दनुजाः मानवाः  
मनुष्याः तथा भुजगभूभुजः सर्पाधिपाः सर्वेऽप्यमी मदीये वशे वर्तन्ते तच्छ्रीला  
इति मदीयवशवर्तिनः, मम वशगाः सन्तीति शेषः । अहं वा, अहमेव, 'वा स्याद्-  
विकल्पोपमानयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः । मदनुवर्तिनां स्वभक्तानां नृणाम्  
अभीप्सितफलप्रदः अभीप्सितं स्वाभीष्टं फलं प्रददाति इति तथामृतः, जगदीश्वरः  
जगत्पालकः अस्मि । हि शब्दोऽत्र प्रसिद्धिं द्योतयति । हे आत्मज ! पुत्र ! त्वं मां  
( हिरण्यकशिपुं स्वजनकम् ) किमु न भजसि किमर्थं नाराधयसि ? ॥ १२ ॥

देव, यक्ष, राक्षस, सूर्यराज, निखिल मानव एवं दानव सभी मेरे वश में हैं । मेरा ही  
अनुसरण करनेवाले जो मानव हैं, उन्हें अभीप्सित फल का विधान करनेवाला जगत्पालक,  
जगदीश्वर नाम से मैं ही ख्यात हूँ । सो हे पुत्र ! तुम मेरी ही भक्ति क्यों नहीं  
करते ? ॥ १२ ॥

ब्रह्मादः—

पङ्क्तिर्मपरिदूषितः क्षणिकचित्तवृत्तिः पुमान्

अहंकृतपरोऽसुरः परमकोपनो दाम्भिकः ।

जनेषु ननु निष्कृपः कृपणभाषणो यः स्वयं

कथं नु जगदीश्वरं कथयितुं स नो लज्जसे ॥ १३ ॥

पङ्क्तिर्—पुमान् मनुष्यः स्वभावतः पङ्क्तिर्मपरिदूषितः बुभुक्षादिभिः पङ्क्ति-  
विकारैः परिभूतो भवति । 'बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ । शोक-  
मोहौ शरीरस्य जरामृत्यू पङ्क्तिर्भयः' । तथा पुरुषः क्षणिकचित्तवृत्तिः क्षणिका अनव-  
स्थायिनी चित्तवृत्तिः मनोव्यापारो यस्य स भवति । अस्थिरबुद्धिर्भवतीत्यर्थः ।

पुरेष्वपि असुरः राक्षसः अहङ्कृतिपरः अहङ्कृतिरहङ्कारः तत्परः तत्परायणः भवति । परमकोपनः अत्यर्थं कुपितस्तिष्ठति । दाम्भिकः मिथ्याचारी च भवति । ननु इत्यामन्त्रणे । 'प्रभावाधारणानुशानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । यस्त्वं स्वयं जनेषु मनुष्येषु निष्कृपो निर्दयः कृपणभाषणः कृपणस्य क्षुद्रस्येव परपं भाषणं यस्य स तथा परपवाक् धर्तसे । 'कदर्यः कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः इत्यमरः । स एव आत्मानं जगदीश्वरं कथयन् प्रतिपादयन् कथं न लज्जसे न हणीयसे । नु इति प्रश्ने । 'नु पृच्छायां विकल्पे चे'त्यमरः ॥ १३ ॥

प्रह्लाद ने उत्तर दिया—

पुरुष स्वभावतः ही प्राण एवं मन की उमुक्षा, पिपासा, शोक । मोह और जरा के साथ मरण इन छः कमियों से ग्रस्त रहता है । इन कमियों के अतिरिक्त उसकी बुद्धि अन्यवसायात्मिका होती है । पुरुषों में भी असुर तो महान् अहङ्कारी, परम क्रोधी एवं दाम्भिक होता है । जो व्यक्ति (असुर) प्राणियों में घोर निष्ठुर एवं क्षुद्र के समान बड़ा स्वयं है, वह अपने आपको जगदीश्वर कहते हुए क्यों नहीं लज्जा का अनुभव करता ? ॥ १३ ॥

दैत्यः—

चिच्चैतन्यं ब्रह्म चात्मा परात्मेत्येवं नामान्यात्मनोऽहं विज्ञाने ।

- तस्मादन्यः कोऽयमस्ति हरिस्ते साकारश्चेन्नश्वरोऽनीश्वराख्यः ॥ १४ ॥

- चिच्चैतन्यमिति—हे प्रह्लाद ! अहम् आत्मनः चित्, चैतन्यं, ब्रह्म, आत्मा, परात्मा इति एवमित्यं मिथ्यानि नामानि नामधेयानि विज्ञाने जानामि । नास्मादतिरिक्तं मन्यत् किमपि ब्रह्मादिकं वेद्नीत्यर्थः । स तु निराकारत्वादुपासकस्यामभूतावाद्य नोपासनकर्मतामहति । उपासनक्रिया हि बन्धिद् गुणमपेक्षते, न कर्तव्यं कर्म भवतीति भावः । ते नव मते तस्मादतिरिक्तः अयमन्यः कः हरिः अस्ति यं त्वं भजसीत्यर्थः । चेत् यदि स त्वदभिप्रेत परात्मा साकारः आकृतिमान् तदा स नश्वरः क्षणिकः अत एव अनीश्वरश्च अप्रमृश भवति ॥ १४ ॥

दैत्य ने कहा—

हे प्रह्लाद ! चित्, चैतन्य, आत्मा एवं परात्मा इन सबको तो मैं आत्मा का ही नाम समझता हूँ । उससे मित्र कौन है यह तेरा हरि ? यदि तुम्हारा हरि कोई साकार है तो निश्चय ही वह नश्वर एवं अनीश्वर है ॥

छन्द—'शालिनी' । शालिन्नुक्ता म्यौ तयौ गोऽभिलोकौ ॥ १४ ॥

अपि च—

आत्मा तावदसङ्गोदासीनोऽनाकृतिः शुद्ध आकाशकल्पः, तदन्यो हरिश्चेत् त्वत्पक्षपाती तर्हि शरीरित्यादनित्यः तथैकदेशित्वादव्यापकश्च ।

तथैव स्मर्तव्य इति चैतिकमस्माभिरपराद्धं यदस्मान्न भजसि ।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति अपि चेत्यादिना—आत्मेति । आत्मा तावदसङ्गः सङ्गरहितः 'असङ्गोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेरित्यर्थः । उदासीनः रागद्वेषादिरहितः । लोके हि रागद्वेषादिरहित उदासीन उच्यते । अनाकृतिः आकृतिरहितः अशरीरीत्यर्थः । अत एव शुद्धः अविद्यादिदोषरहितः इत्यर्थः । आकाशकल्पः सर्वव्यापक इत्यर्थः । चेत् यदि त्वत्पक्षपाती तवाभिप्रेतः अन्यः कश्चित् हरिरास्ते तर्हि स शरीरित्वात् अनित्यः अशाश्वतः भवति । तथा किं च एकदेशित्वात् एकत्र स्थितत्वात् स त्वदभिमतः परमात्मा अव्यापकः असर्वगः । यदि तादृशमपि तं त्वं 'स्मर्तव्यः चिन्तनीयः' इति वदसि तर्हि अस्माभिः किमपराद्धं कोऽपराधः कृतः यत् अस्मान्न भजसि ।

और भी,

आत्मा निरासक्त, उदासीन, आकाररहित, शुद्ध, आकाश की तरह व्यापक है । यदि तुन्दारा पक्षपाती हरि इससे भिन्न है तो निश्चित ही वह शरीरधारी होने के कारण अनित्य और सीमित देश से सम्बन्ध रखने के कारण अव्यापक है । और यदि ऐसे ही की उपासना करनी है, तो मैंने क्या अपराध किया है ? जो मुझे नहीं भजते ?

प्रह्लादः—

सान्द्रानन्दं यदन्तः स्फुरति यदुदये दृश्यधीरस्तमेति  
स्वप्नो यद्वत्प्रबोधि विलसति च यदज्ञानतो विश्वमेतत् ।

रज्ज्वज्जानादिवाहिर्यदपि सवितृवत् साक्षितां यातमेव

ज्योतिर्नारायणाख्यं तदनु भगवतो नित्यमन्तः स्मरामि ॥ १५ ॥

सान्द्रानन्दमिति—सान्द्रानन्द घनानन्दं यद् ब्रह्म अन्तः सर्वस्यान्तरात्मनि स्फुरति सञ्चरति । यदुदये यस्योदये दृश्यधीः दृश्यानां पदार्थानां धीः बुद्धिः यदार्थान्तरस्मृतिरित्यर्थः । अस्तमेति नश्यति । हृदि यदुदयानन्तरं वस्त्वन्तरप्रतीतिरेव न भवतीत्यर्थः । यद् वत् यथा प्रबोधे जागरणकाले स्वप्नोऽस्तमेति किञ्च रज्जोः अज्ञानात् यथा अहिः प्रतीयते, तथैव यस्य ग्रहणः अज्ञानतः एव एतत् विश्वं दृश्यमिदं जगत् विलसति विराजते स्फुरतीत्यर्थः । यदाह श्रीशङ्कराचार्यः 'यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे ।' यदपि यच्चापि ब्रह्म सवितृवत् सूर्यवत् साक्षितां साक्षात्सर्वद्रष्टृतां सर्वावभासकत्वमिति यावत् । यातं गतम् । अहं तु नित्यं सततं तदेव अनु सर्वानुगतं नारायणाख्यं ज्योतिः अन्तः स्वात्मनि स्मरामि ।

प्रह्लाद—जो सबकी अन्तरात्मा में आनन्दरूप से स्फुरित होता रहता है, जिसके उदय ( ज्ञान ) होने पर अन्य पदार्थों का ज्ञान ही अस्त हो जाता है । अर्थात् जिसके ज्ञान से सारा प्रपञ्च उसी प्रकार अस्त हो जाता है जैसे जागृतावस्था में स्वप्न पदार्थ; जिसके



अज्ञान से हम विद्वत् का उसी तरह स्फुरण होता है, जैसे रस्ती के अज्ञान से सर्प का, जो सूर्य के समान सबका भासक है, मैं उसी सर्वान्तर्यामी भगवान् की नारायणनामक ज्योति का अन्तःस्वरण में नित्य स्मरण किया करता हूँ ॥

छन्द—सग्वरा ॥ १५ ॥

अपि च—

य स्वसङ्कल्पमणिनिर्मितानेकप्रचण्डग्रहाण्डानेककटाहकोटिषु चिदे-  
करसत्त्वेनावस्थितोऽपि परमात्माऽम्बुदावर्तलहरितरङ्गैरर्णव इव, कट-  
ककेयूरकुण्डलादिभिः सुवर्णमिव, पद्मगन्धसुरासुरादिभिरुद्यावचादियो-  
निभिः पृथगिवाभासते, स एव प्रकृतिमवष्टभ्य लीलया भक्तजनानु-  
ग्रहगृहीतमिहो वैकुण्ठकण्ठीरवः सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा मण्डलीकृत-  
मार्तण्ड एव एकदेशेऽवस्थितोऽपि विश्वप्रकाशयति तथा यत्र येनाव-  
लोकितस्तेन तत्रैव दृश्यते तथा हरिरपि । अथ वस्तुमहिमाऽप्यलौकिक  
एव । यथा मूर्तयोरेव स्पर्शन्यपापाणयोर्महिमतारतम्य प्रत्यक्षसिद्धमेव ।

य इति—य परमात्मा स्वसङ्कल्प एव मणि तेन निर्मितानि रचितानि यानि  
प्रचण्डानि दुर्बहाणि ग्रहाण्डमण्डलानि तान्येव कटाहा अयोमया पात्रविशेषा  
तेषां कोटिषु कोटिसंख्याकेषु ग्रहाण्डेष्वित्यर्थः । चिदकरसत्त्वेन ज्ञानघनत्वेन अव-  
स्थितोऽपि यथा एकोऽपि अर्णव सागर, अम्बुदो मेघ, आवर्तोऽभ्रमया भ्रम  
लहरिमहातरङ्ग तरङ्गो धीवि, एभिर्यथा पृथगिवावभासते यथा एकमपि सुवर्णं  
कटककेयूरकुण्डलादिभिः कङ्काणाङ्गदङ्कुण्डलादिभिः पृथक्त्वेनावभासते द्योतते तथैव  
वेदमेकमपि ग्रहाण्ड पञ्चमैः सर्प, नगैः वृक्षैः, सुरैः देवैः, अमुरैः दनुजैः उद्यावचा  
दियोनिभिः नैकविधयोनिभिरित्यर्थः । पृथगिव मिश्रमिव प्रकाशते । स एव  
वैकुण्ठकण्ठीरवः कदाचित् 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्टानाम् । धर्मं  
संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' इति स्मृतिमनुमरन् लीलयाऽनायासेनैव  
स्वामेव प्रकृतिमवष्टभ्य भक्तजनोपरि अनुग्रहेण अनुकम्पाविशेषेण स्वीकृततत्त-  
च्छरीरं सर्वोत्कर्षेण वर्तते प्रियते इत्यर्थः । यथा यद्वत् मण्डलीकृतमार्तण्डं  
प्रेरणाशविषयया कृपावर्षाऽत्र भाजनम्, यतुलीमूत सूर्यचिह्नम् एकदेशे एकस्मिन्  
स्थाने अवस्थितोऽपि स्थितमपि सकल जगत् प्रकाशयति तथा किञ्च यत्र येन  
अवलोकितं तत्रैव तेन दृश्यते, तथा तथैव हरिरपि वैकुण्ठकण्ठीरवोऽपि सर्वत्रैव  
वर्तते । अथ अथ च वस्तुमहिमा अपि पदार्थस्वभावातिशयोऽपि अलौकिको विल-  
क्षणः अस्तीति शेषः । उदाहरणार्थं मूर्तयो कनिषा स्थूलयो परिच्छिद्ययोरेव  
वा स्पर्शन्यपापाणयो स्पर्शस्य ( पारम इति लोके ख्यातस्य मणिमेदस्य पापाण-

भेदस्य वा ) तथा अन्यपापाणस्य तदितरस्य पापाणस्य महिम्नः उत्कर्षस्य तार-  
तम्यं तरतमभावः न्यूनाधिक्यं प्रत्यक्षसिद्धमेव सर्वेषां नः लोचनगोचरमित्यर्थः ।

और भी,

जो परमात्मा अपने संकल्प-रूपी मणि से निर्मित दन अनेक विशाल ब्रह्माण्ड स्वरूप कड़ाहों में चैतन्य रूप से एक-रस बहते हुए भी सर्प, वृक्ष, देव, दानव आदि ऊँची-नीची योनियों से उसी प्रकार अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करता है, जैसे एक ही समुद्र अपने आपको मेघ, जल भँवर, एवं छोटी बड़ी तरंगों के रूप में व्यक्त करता है; जिस प्रकार एक ही सुवर्ण कङ्कण, अङ्गद, एवं कुण्टल आदि भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही अपनी प्रकृति का सहारा लेकर लोलावश भक्तजन पर अनुग्रह-विधानार्थ शरीर धारण करने वाला वैकुण्ठ लोक का सिद्ध सबके ऊपर है । जिस प्रकार लघु-काय मण्डला-कार मार्तण्ड सीमित देश में स्थित रहकर भी निखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जिस प्रकार जहाँ-कहीं भी स्थित व्यक्ति उसे अपने ही समक्ष देखता है, वही स्थिति हरि की भी है । और दो वस्तुएँ आकार में एक होने पर स्वभाव में भी एक ही हों सो आवश्यक नहीं; उनकी महिमा विलक्षण ही होती हैं । उदाहरणार्थ, स्पर्श ( पारस ) मणि भी एक पत्थर ही है, पर अन्य पत्थरों से उसका तारतमिक माहात्म्य प्रत्यक्ष ही सिद्ध है ।

दैत्यः—

सुतारामे ग्रामे गिरिशिरसि घोपे तरुवरे

पुरेऽरण्ये गण्ये वसति ननु यस्मिन्निलयने ।

श्मशाने वा चैत्ये दृपदि च तडागे वसति वा

हरिस्ते कुत्रास्ते वद सपदि तस्याधिवसतिम् ॥ १६ ॥

सुताराम इति—हे सुत ! पुत्र प्रह्लाद ! स तवाभीष्टो देवो हरिः श्रीविष्णुः कुत्र क्व आस्ते तिष्ठति सपदि शीघ्रमेव तस्याधिवसतिम् अधिष्ठानं वद कथय । स ते हरिः किम् आरामे उपवने, ग्रामे कस्मिंश्चिद् ग्रामविशेषे, तरुवरे अश्वत्थादिभेदे कस्मिंश्चिद् वृक्षश्रेष्ठे, गिरिशिरसि अथवा कस्यचिद् गिरेः पर्वतविशेषस्य शिखरे, कस्मिंश्चिद् घोपे आभीरपल्ल्याम् 'घोप आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । पुरे महानगरे इत्यर्थः । अरण्ये वने, अथवा गण्ये श्रेष्ठे कस्मिन्निलयने—( निलीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ) श्मशाने शवदाहस्थाने, चैत्ये देवस्थाने यज्ञमन्दिरे वा । 'चैत्यो देवस्थाने यज्ञ-स्थाने देवतरा देवावासे इत्यादि' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । दृपदि पापाणे तडागे जलाशये वा वसति । अत्र वसतीति पदं सर्वत्र सम्बध्यते ।

दैत्यः—हे सुत ! तुम्हारा वह उपास्य हरि कहीं रहता है ? शीघ्र उसका निवास-त्थान बताओ । क्या वह तुम्हारा आराधनीय उद्यान में रहता है अथवा ग्राम में, अथवा पर्वत के शिखर पर, अथवा आभीरों की वस्ती में, अथवा किसी महानगर में रहता है, अथवा वनप्रान्त

में, अथवा किसी श्रेष्ठ क्षमज्ञान में, या देवस्थान में, या किसी शिला-खण्ड में, अथवा जलाशय में ?

छन्द—शिवरिणी है ॥ १६ ॥

प्रह्लादः—

पृथ्व्यां पायसि पायके च पवने दिव्यन्तरिक्षे पुनर्  
मार्तण्डे शशिमण्डलेऽस्ति सुतले यश्चेतनेऽचेतने ।

अस्त्यन्तर्बहिरस्त्यनन्तविभवो भावेष्वभावेऽपि वा

सर्वत्रास्ति सदास्ति किं बहुगिरा त्वय्यस्ति मय्यस्ति च ॥ १७ ॥

पृथ्व्यामिति—अनन्तविभवः अनन्तसामर्थ्यः स विष्णुः पृथ्व्याम् अवनौ, पायसि जले, पायकेऽमौ, पवने वायौ, दिव्य काष्ठामु, अन्तरिक्षे चावापृथिव्योरन्तरे, मार्तण्डे सूर्ये, शशिमण्डले चन्द्रमसि, सुतले नागलोकप्रभेदे, 'सुतल इति नाग-लोकप्रभेदेऽष्टालिकावन्धे च' इति शब्दार्थचिन्तामणिः, इत्यादि सर्वेष्वपि स्थानेषु वर्तते । किं च स विष्णुः चेतने प्राणमृति अचेतने जडेऽपि जगति अन्तः सर्व-स्थान्तरागमनि यहिः बाह्यप्रदेशे चास्ति । भावे पदार्थमात्रे स तिष्ठति द्रव्यादि-षट्कमिन्नेऽपि च स वर्तते पृथ्वी । स सर्वदा सर्वस्मिन् काले सर्वत्र च सर्वत्रिमन्दोऽपि च वर्तते । किं बहुक्तेन म त्वय्यप्यस्ति मय्यप्यस्ति ।

प्रह्लादः—

वह असीम वैभवसम्पन्न विष्णुतत्त्व सर्वत्र सदा विराजमान रहता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, दिशा, आकाश एवं भूलोक के मध्य, सूर्य, चन्द्रमा, नागलोक, चेतन, अचेतन, बाहर, भीतर, भाव, अभाव इत्यादि सभी स्थानों में रहा हुआ है । अधिक क्या कहें, वह तुम में और मुझ में भी व्याप्त है ।

छन्द—शार्दूलविनीहित ॥ १७ ॥

यदि देहिनोऽपि त्रिणोः सर्वगतत्वं मृषा ब्रूये ।

तदसायति जडबुद्धे सदसः स्वप्ने न दृश्यते कस्मात् ॥ १८ ॥

यदीति—यदि देहिनः देहधारिणोऽपि त्रिणोः मृषा मिथ्याभूतं सर्वगतत्वं सर्व-व्यापकत्वं ब्रूये तत् तर्हि अतिजडबुद्धे ? हे मन्दप्रज्ञ ! असौ हरिः सदसः समायाः स्वप्ने स्वप्ने कस्मात् कुतः न दृश्यते । अतः तस्य सर्वव्यापकत्वं त्वदुक्तं मृषा मिथ्यैवास्ति । देहधारित्वं सर्वव्यापकत्वं चेत्पुनर्यं विप्रतिपिदमेतत् 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः', 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादि श्रुत्या तस्य देहप्रतिषेधात् ।

हेतुः—

यदि शरीरपारी विष्णु की तुम सर्वव्यापकता स्वीकार रहे हो, तो अरे मूर्ख ! यह तो

बता कि वह इस सभा के स्तम्भ में क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? और यदि नहीं दिखाई पड़ता तो निश्चय ही तुम्हारी बताई हुई सर्वव्यापकता असत्य ही है । और यह विलकुल स्पष्ट है कि जो देहधारी होगा वह सीमित देश में ही रह सकता है; उसकी सर्वव्यापकता कैसी ? यदि मूर्त पदार्थ सर्वव्यापक हो जाय, तब तो समझना यह चाहिए कि उस व्यापक तत्त्व के अतिरिक्त स्थानाभाववश और कोई है ही नहीं ।

छन्दः—आर्या ( उपगीति ) ॥ १८ ॥

प्रह्लादः—

अस्त्येव वस्तुजाते नास्त्यस्मिन् संशयोऽणुमात्रोऽपि ।

यो यत्र स्मरति हरिं स तत्र पश्यत्यवश्यममुम् ॥ १९ ॥

अस्त्येवेति—स ममाभीष्टो हरिः वस्तुजाते सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि अस्ति । अस्मिन् अत्र विषये अणुमात्रोऽपि स्वल्पोऽपि संशयः सन्देहो नास्ति । यः यत्रापि हरिं स्मरति स तत्रैव अवश्यमेव अमुं हरिं पश्यति । 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणक्ष्यामि स च मे न प्रणक्ष्यति' इति गीतास्मरणात् ।

प्रह्लाद—

मेरा वह बान्धनीय प्रभु सब वस्तुओं में है ही—इसमें अणु—मात्र भी संशय नहीं है । जो जहाँ भी उसका स्मरण करता है वह वहीं उसे देखता है ।

छन्दः—आर्या ॥ १९ ॥

ततः सुररिपुरपि स्फुरितगुरुतरकरालकरकलितकरालकरवालः  
कोपकृशानुकलुषितनयनः शयननिलीनभोगः पदाहतिक्षोभितः भुजङ्ग  
इव कल्पान्तकालकलितकलेवरोऽपरः कृतान्त इव श्रवणकटुपटुतरबहु-  
वचनरचनासंभूतसंरम्भारम्भः स्तम्भं विभेद ।

तत इति—ततः तदनन्तरं स्फुरितः स्पन्दितः गुरुतरः अतिशयगुरुकः करालः भयानकः च यः करः पाणिः तत्र कलितः धारितः करालः भयानकः करवालः असिः येन सः, कोपः क्रोध एव कृशानुः अग्निः तेन कलुषिते रक्ते नयने नेत्रे यस्य सः सुररिपुः दैत्योऽपि शयनेन स्वापेन निलीनः अन्तर्हितः भोगः फणा यस्य सः पदाहत्या पादाघातेन क्षोभित उद्देजितः भुजङ्गः सर्प इव, कल्पान्तकाले प्रलया-  
वस्थायां कलितं धारितं कलेवरं देहो येन स अपरः कृतान्त इव प्रतिकूलतया श्रवण-  
कट्टनां श्रोत्रविदारकाणां पटुतराणाम् उपपत्त्या प्रौढानां बहुवचनानां प्रह्लादोक्तबहु-  
वाक्यानां रचनायाः सम्भूत उद्भूतः संरम्भारम्भः क्रोधारम्भो यस्य स एतादृशः सन् स्तम्भं स्कम्भं विभेद विदारयामास ।

इति श्रीनिसिंहचम्पूकाव्ये द्वितीयोच्छ्वासः ।

इसके अनन्तर उस सुरारि ने मासने लगे मत्स्य को खण्ड खण्ड कर ही डाला जिसने अपनी फड़क्की हुई विशाल एवं क्रूरतर मुत्ताओं में कराल करवाल धारण कर रक्सा था, जिसकी ओतों से क्रोधाग्नि बरस रही थी । हम अवसर पर उसी, शरीर को समेट कर सोनेवाले उस काले नाग की स्थिति थी, जो लात मार कर जगा दिया गया हो अथवा उम यमराज की मी थी, जो प्रलयकाल में मूर्तिमान् हो उठा हो । वास्तव में हम समय हिरण्यकशिपु को जो क्रोध का इतना नवदम्भ वेग हो आया था, वह प्रह्लाद की कर्ण कट्ट नथा पिता को निरस्त कर देने वाली युक्तिगर्भ वाक्य-रचना का परिणाम था ।

दितीय उच्छ्वाम समाप्त

## अथ तृतीयोच्छ्वासः

अथ रसप्रसङ्ग । तत्रादौ भयानक ।

‘ते स्यु क्रमादिह भयानकरोद्वीरे’त्यादिना प्रथम उच्छ्वासे सायद् भयानकदीना सर्वेषां नवविधाना रसाना निरूपणप्रस्तावोऽभिहितः । तदनुसारमिदानीं मिह तृतीये उच्छ्वासे तान्निरूपयति । तत्र प्रथम भयानकमाह—

यहाँ से रस-प्रसङ्ग आरम्भ किया जा रहा है । सबसे पहल भयानक रस की ही चर्चा बढाई जा रही है । भयानक का वर्णन कर रहे हैं—

‘आम्यद्भ्रूमागभीम’ सरतरसदिराङ्गारघोरायताक्ष  
कल्पान्तोद्दामविद्युत्प्रचुररसनया सृक्णिणी लेलिहान ।  
स्फारोद्यत्सिंहनादस्फुरितफणिफणाफूत्कृतिप्रस्तशत्रुर्  
दष्टादुर्धर्षवस्त्रो हरिसुरसभास्तम्भ आविर्वभूव ॥ १ ॥

आम्यादिति—आम्यद्भ्रूमागभीम आम्यश्चासौ भ्रूमाग आम्यद्भ्रूमाग तेन भीम भयानक, सरतरसदिराङ्गारघोरायताक्ष सरतर नाम्नतर स सदिराङ्गार सदिर् वक्रकण्ठ ‘सदिरो वक्रकण्ठ’ इति कोष । तस्याङ्गारवत् निर्धूमाग्निशिखे वत् । घोरे भयानके दुर्दर्श इत्यर्थ, भायते विनाले दीर्घ अक्षिणी लोपने यस्य स । कल्पान्तोद्दामविद्युत्प्रचुररसनया कल्पान्ते प्रलये उद्दामा दाम्न उद्गता अति घबरेति यावत् या विद्युन् सौदामिनी तद्वत् प्रचुरया विपुल्या रसनया जिह्वया सृक्णिणी ओष्ठप्रान्तौ लेलिहान स्वदन् । स्फारोद्यत्सिंहनादस्फुरितफणिफणाफूत्कृतिप्रस्तशत्रुर्—स्फारेण विह्वल उद्यता उद्गच्छता सिंहनादन पद्माभ्यगर्जनेन स्फुरितानां कम्पितानां अजिह्वानां क्षेपस्पर्शसहस्रस्य या फूत्कृतयस्ताभिः घ्रतौ भीत

शत्रुहिरण्यकशिपुसंज्ञो यस्य स तथा । दंष्ट्रादुर्धर्षवक्त्रः दंष्ट्राभिः दन्तैः दुर्धर्ष दुरा-  
लभं वक्त्रं मुखं यस्य सः । हरिः विष्णुः असुराणां सभायाः परिपदः दैत्यगोष्ठी-  
भवनस्येत्यर्थः । स्तम्भे स्कम्भे आविर्भवून् प्रादुरासीत् । तत्र ददृशे इत्यर्थः । 'स्फारो  
विपुले विकटे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । 'अङ्गारो निर्धूमाग्निपिण्डे' इति च ।  
सर्वत्र हरिरस्ति इति प्रागुक्तप्रह्लादप्रतिज्ञामुपश्रुत्य 'सदसः स्तम्भे न दृश्यते  
कस्मात्' इति हिरण्यकशिपुकृताक्षेपपरिहाराय स्तम्भादेवाविर्भूतो हरिः सर्वैर्द-  
दृशे इति भावः ।

[ फिर क्या, खम्भ के फटते ही, शीघ्र ही ] वह हरि सुरारि के सभा-स्तम्भ को  
विदीर्ण करता बाहर निकल आया, जो वक्त्राकार धूमती हुई भौंहों के कारण अत्यन्त  
भयानक जान पड़ रहा था, जिसकी विशाल आँखें जोरदार लहकते हुए खदिर के अङ्गारे  
की सी दहक रही थीं, जो प्रलयकालीन चञ्चल एवं कराल विद्युत् की भाँति लपलपाती  
हुई जिह्वा से गलफड़ों को चाट रहा था, जिसने अपने विकराल सिंहनाद से शेषनाग को  
भी ऐसा धरा दिया कि वह भी भय के बश भीषण फूत्कार करने लगा । फूत्कार भी वह  
ऐसी थी, जिससे हिरण्यकशिपु व्रस्त होता जा रहा था; इतना ही नहीं दाँतों को देसते  
हुए उसका वक्त्र अत्यन्त-दुर्धर्ष जान पड़ रहा था ॥

छन्दः--स्रग्धरा SSS SIS SII III ISSI SS ISS ॥ १ ॥

अपि च—

उद्यद्वैकुण्ठकण्ठीरवकठिनतराखण्डचण्डाट्टहासं

त्रासादासाद्य सद्यो गलितनिगडितं धावदैरावतस्य ।

दानाम्भो दैवमम्भो दशनरुचिरथोद्दामसौदामिनीयं

ग्रीष्मोऽप्याडम्बरं यन्नभसि तदभवद् गर्जितस्योर्जितं च ॥ २ ॥

उद्यदिति—हरेः दैत्यगोष्ठीभवनस्तम्भाविर्भावानन्तरं कस्य किं वृत्तमभव-  
दिति कतिपयैः पद्यैस्तदेव दर्शयति । उद्यत उद्गच्छतः, सभास्तम्भे दृश्यमानस्ये-  
त्यर्थः, वैकुण्ठकण्ठीरवस्य वैकुण्ठः विष्णुः स एव कण्ठीरवः पञ्चास्यः तस्य नृसिंह-  
रूपस्य विष्णोः कठिनतरः क्रूरतरः अखण्डः निरन्तरः चण्डः प्रचण्डः य अट्टहासः  
महाहासः तमासाद्य प्राप्य श्रुत्वेति यावत् । त्रासात्सद्यः सपदि गलितं भयजनित-  
कार्श्येन स्वयमेव निवृत्तं निगडितं बन्धनं यस्मिन्कर्मणि तत् इति धावनक्रिया-  
विशेषणम् । निगडितमिति निगडयतेः करणार्थं नामधातोर्भावे क्तः । धावदैराव-  
तस्य धावंश्चासौ ऐरावतः इति तस्य अभिधावतः ऐरावतस्य सुरकुञ्जरस्य यद् दा-  
नचरणमभूत् तदेव भूयस्त्वात् पर्जन्यवर्षणमभवत् । अथ किं च तस्यैरावतस्य दश-  
नरुचिः दन्तकान्तिः उद्दामा प्रचण्डा चासौ सौदामिनी विद्युत् अभवत् । ग्रीष्मे  
निदाघर्तावपि नभसि अन्तरिक्षे यदाऽम्बरे घनरवोऽभवत् तत्तु गर्जितस्य ऐरावत-



द्वारा बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार नृसिंह की सट के संघर्षसे यदि यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड छिन्न-भिन्न न हुआ होता, और ये तारागणरूपी छिद्र न हुए होते तो ब्रह्माण्ड का अन्तवर्ती जल आज बाहर किस रास्ते निकलता ?

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI IS शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

चण्डाडम्बरभृङ्गमड्गमरुकध्वानावधानाकुला

क्षुभ्यद्भीषणभूरिभैरवरवैरुद्भीपिता द्यौरपि ।

खेलत्खेचरयोगिनी कलकलद्वेतालकोलाहलैः

स्वं गर्भं विससर्ज तर्जितमतिस्ताराप्रपातच्छलात् ॥ ४ ॥

हेराविभावे सति हिरण्यकशिपुनिधनसूचकं ताराप्रपातरूपमुत्पातं वर्णयति—  
‘चण्डेति—चण्डं प्रचण्डम् आडम्बरं विस्तारं विभर्तीति चण्डाडम्बरभृत् । इदं ध्वानं-  
विशेषणम् । स च डमडित्याख्यो डमरुकध्वानः । डमरुकं वाद्यविशेषः । तस्य ध्वानेन  
शब्देन आकुला व्याकुला उद्विग्ना इत्यर्थः । क्षुभ्यन्तो ये भीषणाः भयानकाकाराः  
भूरयः प्रचुरा भैरवाः शङ्करावतारभेदाः तेषां रवैः शब्दैः उद्गीपिता उद्वेजिताः,  
खेलन्त्यः क्रीडन्त्य खेचर्यः ( खे आकाशे चरन्तीति ) योगिन्यः तासां तथा कल-  
कलन्तः कलमव्यक्त शब्दं कलन्तः कुर्वन्तः ये वेतालाः शिवानुचराः तेषां कोला-  
हलैरतजिता मतिः यस्याः सा द्यौरपि शुलोकोऽपि ताराप्रपातच्छलात् नक्षत्रनि-  
पातव्याजेन स्वं गर्भं विसर्ज मुमोच विमुक्त वाच्यं दैत्यस्त्रियः स्वं गर्भं विससर्जु-  
रिति भावः ।

नृसिंहावतार के अनन्तर हिरण्यकशिपु की मृत्यु के सूचक चिह्न का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नृसिंह-गर्जन के परिणामस्वरूप गगन से तारागण टूट टूट कर धरा पर आने लगे । उन्हें देख (कवि बो) ऐसी कल्पना सूझती है कि मानों ये तारागण स्वर्गरूपी नायिका के गर्भ हों, जो भीषण रव-श्रवण के फलस्वरूप नीचे गिर पड़े हों । यह गगनरूपी नायिका डमरु के प्रचण्ड एवं व्यापक डमड्-डमड्-शब्द को सुन कर व्याकुल हो गई; उसका मैं अनेक भयंकर एवं विक्षुब्ध भैरववाद्य के निनाद से पूर्णतः भीत हो उठी, आकाश में क्रीटा-परावण योगिनियों एवं कलकल करने वाले वेतालों के कोलाहल से उसकी बुद्धि अपने आपे में न रह गई । गर्भपात का कारण उस गगन-नायिका की यही स्थिति थी ।

अलंकारः—कैतवापहृति ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS ISS SSI IS शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

अपि च—

यल्लोलकालकरवालकरालजिह्वा-

प्रोद्भूतभीतिभरमंगुरभावेनेन ।

३ न० च०



अद्यापि त्रिगुदपि मेचकमेघमालाम्

ईषत्प्रदर्शिततनु पुनराविशन्ती ॥ ५ ॥

यदिति । यन्म्य नृमिहम्य, कालं यम इव कालस्येति वा, करवाल' अस्ति तद्वत्कराला भीषणा जिह्वा इति कालकरवालकरालजिह्वा, लोला चपला चासौ कालकरवालकरालजिह्वा, तस्या प्रोद्भूत उपन्नो यो भीति-भर भीत्यतिशय' तेन यद् भगुरभावन मेघे निलयनार्थं धकृतया स्वशरीरसंकोचन तेन, दृश्यन्ते हि लोके स्वल्पे आश्रये भयान्निलीयमाना धकृतया स्वशरीर संकोचयन्त्य' । अद्यापि अधुनापि ईषत्स्वल्प प्रदर्शिता उद्भासिता तनु' स्वरूप यया सा विद्युत् तदिदपि पुन मेचकमेघमालां कृष्णजलदपद्विम् आविशन्ती प्रविशन्ती अस्मा भिर्दृश्यते इति शेषः । 'मेचकस्तु मयूरस्य चन्द्रकेरयामले पुमान्' इति मेदिनी । 'कालो मृतौ महाकाले समये यमकृष्णयो' इति च ।

काल के कराल करवाल की भीति निम्नो रूपपाती हुई जिह्वा को [ देख कर ] विद्युत् की हम प्रकार भय का अतिरेक हो उठा कि आज भी वह [ पूर्ण रूप से देर तक बाहर नहीं रह पाती और ] अपना हल ही सा हाथक दिखाकर अपने [ आश्रय स्वरूप ] कृष्ण जलदावली में शरीर-संकोच-पूर्वक चन्द्र प्रवेश करती जाती है—सारा सारा इसे देखता है ।

छन्द —ऽऽ। ॐ। ॐ। ॐ। ॐ। ॐ वसन्ततिलका ॥ ५ ॥

तदनु दनुजराजप्रचुरतरकावालनि'दुरघातसभेदोद्भूतस्फुरत्तट-  
टारावर्जितनिर्गतनिकान्तकिन्नरासुत्तमूषमूहाद् उदयशिक्षरिशिरसा-  
खराशुरिव उज्ज्वलतनु, अणिमयनादभिरिव तीव्रतर, रम्भास्तम्भान्  
कर्पूर इव कमनीय' सुरद्वेपिवेशमनि सुरशिमकारमोरारमनिर्मितस-  
भास्तम्भगर्भान्तरद्विरारिप्रासीत् । तत प्रलयकालजलदपदलगर्जित-  
विस्फूर्जितमिव भयकर, भूरिभेरीक'कार इव गभीरतर, भयभरभगुर-  
भुजगराजविलोलमोलिस्थलान्दोलितभूमण्डलोच्छललोलजलकलोलच्छ-  
लाञ्जलनिधि पुलकयन्निव चिरतरयागानिद्रामुद्रितनयन जलशयनमक्स्मा-  
ज्वागरयन्निव कम्पितकैलामकेलिविलामिनः पुरहरस्य सहारभ्रममुत्पाद-  
यन्निव नृसिंहपिहितसिंहनादोऽप्यत्यन्तद्रव्याण्डोदरमाभूरयाचक्रे ।

तद्विवरि—तदनु तदनन्तर सुरद्वेपिवेशमनि हिरण्यकशिपोरुद्दे सुरशिमकारमी-  
रारमनिर्मितसभास्तम्भगमात्, सुरशिमभि सुलविभि कारमारारमभि कारमीर  
द्वन्द्वमैव पापापै निर्मितस्य रचितस्य ममास्तम्भस्य गोष्ठीमवनस्तम्भस्य  
गर्भात् मण्यात् नरहरि धीनृसिंह आविशामीत् प्रादुर्यम्ब । कीदृशास्तम्भादि

त्याह—दनुजेति । दनुजराजस्य हिरण्यकशिपोः प्रचुरतरा अतिबहुला ये कर-  
वालस्यासेः निष्ठुराघाताः प्रहाराः तेषां यः संभेदः स्तम्भे संबन्धः तस्मादुद्भूतः  
उत्पन्नः स्फुरन् च चलन् देशान्तरे व्याप्नुवन्निति यावत् । यः तदतटारावः तट-  
तटाशब्दः तेन तर्जिताः भस्मिताः निर्जराणां देवानां निकराः समूहाः नराणां  
मर्त्यानां किन्नराणां देवयोनिविशेषाणाम् असुरचमूनां राक्षसानीकिनां च समूहाः  
शृन्दानि येन तस्मात् । कस्मात् क इव कीदृशश्च नरसिंहः—उदयशिखरिशिखरात्  
उदयाचलशृङ्गात् खरांशुः सूर्य इव उज्ज्वलतनुः तेजस्विशरीरः अरणेः काष्ठ-  
निर्मितस्य अग्निसाधनयन्त्रस्य मथनात् संघर्षणात् अग्निः बहिरिव तीव्रतरः  
प्रचण्डतरः । रम्भास्तम्भ इवेत्युपमितसमासः । तस्मात् कर्पूर इव घनसार इव कम-  
नीयः कान्तियुक्तः सुन्दरः । अरणिः ऋच्छति प्रापयत्यग्निमिति काष्ठनिर्मितस्या-  
ग्निसाधनयन्त्रस्य नामधेयम् ।

ततः—आविर्भावानन्तरं नृसिंहविहितसिंहनादः नृसिंहेन त्रिणोरवतारेण नर-  
हरिणा विहितः कृतः सिंहनादः सिंहगर्जनमपि ब्रह्माण्डोदरं सर्वं ब्रह्माण्डमण्डल-  
मापूरयाचक्रे अपूरयत् । क इव कीदृशः किं कुर्वन्निवेत्याह—प्रलयेति । प्रलय-  
कालस्य जलदपटलस्य मेघवृन्दस्य गर्जितं ध्वान इव विस्फूर्जितं वज्रनिर्घोष इव  
च भयंकरः भीषणः । गर्जितान्तविस्फूर्जितयोः समाहारद्वन्द्वः । भूरीणां प्रभूतानां  
मेरीणां बृहद्बड्कानां भांकार इव गभीरतरः गंभीरतरः । भांकार इति ढक्काशब्दानु-  
कृतिः । भयभरेति—भयभरेण भयातिशयेन भंगुराणि भज्यमानानि संकुचन्ति  
इति यावत् । यानि भुजगराजस्य विलोलानि मौलिस्थलानि फणासहस्रं तैः  
आन्दोलितं चालितं यत् भूमण्डलमवनिमण्डलं तस्मादुच्छ्रलत् निर्गच्छत् यत् लोलं  
चलं जलं सलिलं तस्य कललोलानां तरंगाणां छलात् व्याजात् जलनिधिं सागरं  
पुलकयन् इव रोमाञ्चयन्निव, पुलकिनं करोतीति विग्रहे ण्यन्तात् शता । चिर-  
तरेण अतिचिरेण योगनिद्रया मुद्रिते निमीलिते नयने नेत्रे येन तं जलशयन-  
मनन्तम् ( हरिं ) अकस्मात् अतर्कितमित्यर्थः । जागरयन्निव निद्राक्षयं प्रापयन्निव ।

कम्पिते सिंहनादेनेति शेषः, कैलासे या केलिः सा कम्पितकैलासकेलिः ।  
तस्याः विलासिनः विलसनशीलस्य पुरहरस्य त्रिपुरान्तकस्य हरस्य संहारभ्रमं  
प्रलयकालप्राप्तिसंदेहम् उत्पादयन्निव जनयन्निव । अस्मिन्प्रकरणे प्रकृतावस्थो  
भगवान् नरहरिर्भयानकरसस्यालम्बनविभावः, तदीया भ्रूजिह्वाचेष्टासदाब्रह्माण्ड-  
मेघनसिंहनादादयः उद्दीपनविभावाः, त्रस्तभुजगराजैरावतद्युविद्युत्सुरासुरज-  
गतोऽत्र वर्णितास्तास्ताश्चेष्टा अनुभावास्तैरभिष्यक्तं जगतो भयं स्थायिभावोऽत्र रस-  
रूपतया आस्वाद्यते । संचारिभावास्तु सम्भविन आश्चर्यजाड्यमूर्छादयोऽनुक्ता  
अपि उक्तैर्विभावादिभिराक्षिप्यन्ते इत्यवधेयम् ।

इसके पश्चात् उस सुरारि के गृह में देदीप्यमान काश्मीरी शिलाओं से बने हुए

सभा-सम्भ से नरहरि प्रकट हो गए । यह वही सम्भ था, जिस पर दनुरा  
हिरण्यकशिपु ने अपना तलवार से प्रचुर एवं क्रूर वार किया था और इस वार से हो  
वाले विदारण के परिणाम-स्वरूप जो तड़-तड़ की ध्वनि हुई, उससे सारे देव-गण, मनुष्य  
वि-नर, एवं असुरों की सेना व्रत्त हो उठी । उस सम्भ से प्रकट होते हुए नरहरि के  
शोभा उदयाचल से उदित होते हुए वातिमान् शरीर वाले भानु की सी हुई, अथवा  
अराग्न-मयन से समुद्रगत प्रचण्डतर अग्नि-ज्वाला की सी हुई, अथवा केले के सम्भ  
अनित वमनाय वपूर-राशि सी हुई ।

फिर तो नृसिंह ने नाद ने भी अरुण्ड ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती भाग को परिपूर्ण के  
गिया—अर्थात् सारा गगन ध्वरा दिया । प्रतीत हुआ जैसे कि वह नाद प्रत्यक्कालीन में  
राशि का गर्जन ही हो, अथवा वज्र का निर्घोष हो । इतना भयकर था वह नाद  
इतना गभीरतर वह नाद था, जैसे अनेक भेरी बाघों का मिलित घोष हो । [ इस नाद के  
तुनकर ] भयातिरेकवश मनुचिन्तित होते हुए शेषनाग का पणामण्डल क्षिप्त हो गया  
और फिर तो उसा के सहारे पृथ्वी हुई सारी पृथ्वी झूल उठी । पृथ्वी के झूलने का पल था  
हुना कि समुद्र की शैल-जलमयो तरङ्गें उछल पड़ी । उछलती हुई तरङ्गों की देख के  
वह सम्भावना होने लगी मानों ये तरङ्गें समुद्र की पुत्थावली हों, जो भय के कारण  
साक्षिक भाव के रूप में बाहर निकल पड़ी हों । ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह नाद बिना  
कारण से योगनिद्रावश निमीलित नेत्रों वाले क्षीरशायी भगवान् को अकस्मात् जा  
रहा हो अथवा ऐसा जान पड़ा कि नाद-कणित कैलास में कोटा-भरावण त्रिपुरारि के  
प्रत्यक्काल के आत्मन की आग्नि उत्पन्न कर रहा हो ।

अथ वीररस—

तत स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीरं नरहरिम्  
पुन सात्माद्वीचयामृतभरणहेतुर्विधिवशात् ।

स्फुरद्गर्वात्स्पर्षाद् दिवि दिविपदासादितगदो

गदामादायोच्चैरेवददमरारातिरचिरात् ॥ ६ ॥

तत इति—तत तदनन्तर विधिवशात् देववशात् । 'विधिर्विधाने देवे च  
हृत्यमर । दिवि दिविपदासादितगद दिवि स्वर्ग आसादित सप्त्यादित दिविपदा  
देवेषु गदो भयननितज्वरादिरूपो रोगो [यन स] । अमराराति' मुरारि ।  
हिरण्यकशिपु स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीरं स्तम्भादुद्भूतम् उत्पन्नम् अद्भुतत  
शरीरं कलेष्वर यस्य त नरहरि नृसिंह साक्षात् प्रत्यक्षमय वीक्ष्य दृष्ट्वा अवदत् ।

स्फुरद्गर्वात्स्पर्षात् स्फुरन् प्रादुर्भूयन् यो गर्व शौर्याभिमानस्तस्योत्कर्षा  
उद्देवात्, अचिरात् तत्कालमेव गदामादाय हरिजिघांसया गदामुपमय उत्पन्न  
तागस्त्रेण पुन अवदत् अवेचत् । पूर्वं प्रह्लाद प्रायुक्तवत् वृद्धां नृ नृहरिं प्रसी

पुनः शब्दप्रयोगः । 'गदो आतरि विष्णोः स्यादामये नाऽऽयुधे गदा' इति मेदिनी । अमृतमरणहेतुरिति अमृतमेव श्रीविष्णुदर्शनमेव मरणस्य हेतुर्यस्य । श्रीविष्णुदर्शनं प्राप्य सर्वोऽपि अमृतो भवति । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादिश्रुतेः । अत्र तु विष्णुना स हतः सन्नमृतोति तद्विपरीतमेव जातम् ।

वीररसः—

इसके पश्चात्, अदृष्टं वश स्वर्ग में देवताओं को भी भीति-ज्वर उत्पन्न करने वाले उस चुरारि ने जब स्तम्भ से प्रकट अत्यन्त आश्चर्यजनक शरीर वाले नरहरि को प्रत्यक्ष देखा तब उसका अभिमान जाग उठा और उसी गर्वोद्रेक में शीघ्र ही अपनी गदा तान कर गरजते हुए स्वर में उसने कहा—[प्रस्तुत श्लोक में हिरण्यकशिपु का विशेषण बहुत ही सारगर्भ है, अतः उसकी व्याख्या स्वारस्य के उद्घाटनार्थ अलग से लिखी जा रही है ] । हिरण्यकशिपु अनृत मरणहेतु था । अर्थात् वहाँ अनृत ही उसकी मृत्यु का कारण बना । भगवान् विष्णु स्वयं अनृत स्वरूप हैं । [ अथवा उनको प्राप्त कर के लोग अनृत हो जाते हैं—इसलिये औपचारिक रूप में 'आयुर्धृतम्' इत्यादि की भाँति भगवान् को अमृत कहा जा सकता है । ] अस्तु । कहने का अभिप्राय यह कि जिसे प्राप्त कर के अन्य लोग अमर हो जाते हैं, उसे ही प्राप्त कर के यह मृत हो गया ।

छन्दः—ISS SSS III SII SII IS शिखरिणी ॥ ६ ॥

ततः सोत्साहं हरिरपि—

किं नासन् भ्रातृपूर्वास्तव दनुज पुरा ये पुरारेरशक्यास्तेषां दोर्दण्डकण्डूर्न किमु शममिता मत्प्रतापानलेन ।

तत्र त्वं भोः कियान् वा कथय कथमथ प्राणनं तेऽतिगर्व सर्वं सर्वं सभायां प्रथयसि भुजयोः किं मृषा भापणेन ॥ ७ ॥

किं नासन्निति—हे दनुज ! हे दानव पुरा प्राक्काले ये पुरारेः शिवस्यापि अशक्याः धर्षयितुमशक्या इति यावत् । तव भ्रातृपूर्वाः तव भ्राता हिरण्याक्षः पूर्वः आदिर्येषां ते तथा । हिरण्याक्षादय इति यावत् । न आसन् ? आसन्नेवेत्यर्थः । किं तेषां हिरण्याक्षादिदैत्यानां दोर्दण्डकण्डूः भुजदण्डकण्डूयनं मम प्रतापवह्निना न शमं शान्तिमिता प्राप्ता । अर्थात् किं त्वमेतत्सर्वं नाभिजानासि यत् त्वत्तोपि अधिकवीर्यशालिनः पूर्वमपि नैकधा समभूवन् तेषां च कण्डूशमनार्थं तत्तत्काले मयैव मर्त्यलोके अवतीर्णम् । तत्र तेषां मध्ये भोः त्वं कथय कियान् वा कियानेवासि तव का ह्यमता । अथ यदि त्वं तेभ्योऽपि चली तदेति शेषः । ते तव अतिगर्वं यथा स्यात्तथा कथं सर्वं परिपूर्णं प्राणनं जीवनं वर्तते । यदि त्वं तेभ्योऽपि चली स्यात्तदा पूर्वमेव हतः स्या इति न तव सर्वं जीवनं स्यादिति भावः । सभायाम् अस्यां संसदि भुजयोः स्वबाह्वोः सर्वं सकलं वीर्यादिकं प्रथयसि विस्तारयसि

उद्धोषयामि एतेन मृषा मिथ्याभाषणेन किम् ? न किञ्चित् प्रयोजनं साधयितुं शक्यमिति भावः ।

दैत्यः—

किं भीषणेन वपुषा किमु गर्जितेन

किं वल्गितेन किमनेन विभेति वीरः ।

किं श्वापदानि न वसन्ति गिरिदरीषु

किं तैर्गिरिगुरुभयं समुपैति सिंह ॥ ८ ॥

किमिति—हे सिंह ? हे नृसिंह ? अनेन ते भीषणेन भयजनकेन वपुषा दंहेन किम् ? न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । एतेन ते गर्जितेन किम् ? अनेन ते वल्गितेन बहुभाषितेन किं, मादृशो वीरः अनेन सर्वेण प्रागुक्तेन विभेति किं नेत्यर्थः । किं गिरेः पर्वतस्य दरीषु गुहासु श्वापदानि हिस्त्रपशुद्वौ व्याघ्रा वा न धमन्ति ? वसन्त्येवेत्यर्थः । तथापि किं तैः, गिरिदरीमाधितैः श्वापदैः न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । एतद्वेषोपपादयति—गिरिगुरुभयं समुपैति । इदं काकुवाक्यम् । ततश्च तेभ्योऽपि गिरिः गुरुभयं न समुपैतीत्यर्थो लभ्यते ।

दैत्य ने कहा—

यह क्या भीषण आकार दिखा रहे हो ? इस तुम्हारे गर्जन से क्या होना है ? तुम्हारी यह बज्जबाद निरर्थक है ? हे सिंह ! क्या मेरे जैसा वीर इन सब आटम्बगों से डर जाएगा ? पर्वत और गुहाओं में क्या बड़े-बड़े हिंस्र जन्तु निवास नहीं करते ? तो पर्वत उनसे डर जाता है क्या ?

छन्दः—SSS SSS S। ॥ १SS १SS १SS सङ्घरा ॥ ७ ॥

मदनन्तर उत्साह में झूमते हुए उम दानव को हरि ने भी कहा—

हे दानव ! महाकाळ शिव भी जिनका कुट्टन न बिगाड पाये थे, उन हिरण्याक्ष जैसे महादानवों से अतीत मूना है ? क्या उनकी भुजाओं की सुन्नलदृष्ट मेरी प्रतापपानि से नहीं झुन्नम दा गई ? तो जब हमें बैठे दानवों का सर्वनाश हो गया, तो उनके बीच तुम्हारा क्या गगना है ? बोली । यह तुम्हारा जीवन फिर बनना गर्वमय क्यों हो रहा है ? अपनी भुजा का बल सभा में [ क्या ] बयां रहे हो ? इस व्यर्थ बज्जबाद से क्या होना जाना है ?

छन्दः—SS। S। S। १S। SS वसन्ततिलका ॥ ८ ॥

अपि च—

युद्धमत्प्रह्वस्य तेक्ष्ण्य परिणमति सभास्तम्भसंभेदहेतोः

दोर्ध्वोयं लोकश्लोकप्रथितमथ चलं बालघातैकगम्यम् ।

रे ! स्यात्मानं निजानन्तपि वहमि मया यत्कृन्तान्तेन साधं

स्पर्धां तस्मात्स्वदन्यो ननु दनुजकुले नास्ति विद्वानशूरः ॥ ९ ॥

युष्मदिति—किं च हे दानव ? युष्माकं त्वद्घर्माणां खड्गस्य असेः तैष्यं निशितत्वं सभास्तम्भसम्भेदायैव परिणमति फलति । अत्र सम्यग्भेदनं सम्भेद इति योगार्थो निवर्तितो न तु सम्भेदो मेलनम् । त्वद्विधानामसुराणाम् आयुधानि केवलं सभास्तम्भाद्येव भेत्तुमर्हन्ति, युष्माकं दोष्णां भुजानां वीर्यं पराक्रमः लोक-शोकप्रथितं लोकानाम् अनागसां मर्त्यानां शोकाय शोकनिमित्तं प्रथितं ख्यातम-स्ति । अथ अथ च युष्माकं शारीरं बलं बालघातेन एकेन एकया बालहत्या एव गम्यं विज्ञेयं वर्तते । असमर्था एव बालेभ्योऽपि विभीय तद्धत्यां कुर्वते इति भावः । रे नीच ? स्वात्मानं स्वसामर्थ्यमित्यर्थः । विजानन्नपि विदन्नपि त्वं यत् यस्मात् मया कृतान्तेन यमेन सार्धं सह स्पर्धां सङ्घर्षं वहसि तस्मात् ततः कारणात् मन्ये दनुजकुले दानवान्ववाये त्वदन्यः त्वद्वते करिचदपि विज्ञानशूरः ज्ञानपण्डितः नास्ति इत्युपहासः ।

और भी—

हे दानव ! तुम्हारे वर्ग वालों की खड्गशक्ति का अवसान सभास्तम्भ के विदारण में होता है । अर्थात् तुम लोगों की शक्ति इतना ही कर सकती है । तुम लोगों की शक्ति की प्रसिद्धि इत्नी बात में है, कि वह निरपराधों को शोक-व्यथा-उत्पन्न करती है । एक बालक की हत्या से ही तुम लोगों के बल का पता चल जाता है । तुम्हारे पास इतनी ही शक्ति है कि एक बालक की हत्या कर सको । सारांश यह कि बालक से भी डरते हो, नभी तो शङ्कित होकर उसे मारना चाहते हो । इस प्रकार अपने आप को अच्छी तरह समझते हुए भी जो मेरे जैसे महाकाल से स्पर्धा कर रहे हो, तो इससे व्यक्त है कि इस दानवकुल में तुमसे बढ़कर कोई पण्डित नहीं हुआ ?

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ९ ॥

हरेरुदारां गिरमाकलय्य रूपं च तस्योग्रतरं निरीक्ष्य ।

गदां विसृज्याथ सुरारिवर्यः कृपाणपाणिः पुनराजगाम ॥ १० ॥

हरेरिति—ततः सुरारिवर्यः हिरण्यकशिपुः हरेः विष्णोः उदारामर्थमहर्तां गिरं वाणीमाकलय्य श्रुत्वा तस्य उग्रतरमतिभयावहं रूपं च निरीक्ष्य वीक्ष्य अथानन्तरं गदां विसृज्य त्यक्त्वा कृपाणपाणिः कृपाणः पाणौ यस्य स सन् पुनराजगाम हरेरग्रे युद्धार्थमागमत् । ‘उदारो दातृमहतोः’ इत्यमरः । ‘प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः’ इति पाणिशब्दस्य परनिपातः ।

इसके बाद वह दानवराज भगवान् की इस अर्थगर्म वाणी को सुन कर और उनके भयंकर रूप को देख कर गदा को एक तरफ रख तलवार हाथ में ले युद्ध के लिए संमुख आ डटा ।

छन्दः—ISI SSI ISI SS रूपेन्द्रवज्रा ॥ १० ॥

युद्धाटोपचपेटपाटिततनुं युटयत्किरीटस्फुटद्-

रत्नाकीर्णरणाङ्गणे निपतितं मूर्च्छाभ्रमल्लोचनम् ।

हुंकारस्फुरिताधरं श्लथकरं केशप्रहारकर्पणाद्

दैत्यं जानुयुगे दधार नृहरिः सर्पं गरुत्मानिव ॥ ११ ॥

युद्धेति—अथ नृहरिः गरुत्मान् गरुडः सर्पमिव युद्धाटोपेन संग्राममरम्भेण यश्चपेटस्तेन विस्तृताहुलिकेन हस्तेन (चपेटा इति भाषायाम्) पाटिता लोष्टेन फलमिव विदारिता तनु शरीर यस्य तम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तुनुस्तनु' इत्यमरः । 'चपेटो विस्तृताहुलिके हस्ते पुत्तलेऽपि च' इति शब्दस्नोममहानिधिः । युटपदिति—युटयत् । द्विधात् किरीटात् सुकुटात् स्फुटद्भिः पतङ्गी रत्न आकीर्णं व्याप्ते रणाङ्गणे निपतितं मूर्च्छया मोहन भ्रमन्ती अनवस्थिते लोचने नेत्रे यस्य तम्, हुंकारेण स्फुरितोऽधरोष्ठो यस्य तम्, श्लथौ शिथिली करौ पाणौ यस्य तं दैत्यं दानवं हिरण्यकशिपु केशप्रहारकर्पणात् केशेषु गृहीत्वा आकर्पणेनेत्यर्थः । जानुयुगे उभयोर्जान्वोर्मध्ये दधार धारयामास ।

जिस प्रकार गरुड सर्प को मारकर अपने चंगुल में कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् नृसिंह ने भी उम हिरण्यकशिपु को बाल पकड़कर पसीट लिया और अपनी दोनों जानुओं के बीच धर दबाया, जो पहले से ही चूर-चूर किरीट से विकीर्ण होते हुए रत्नमय रणाङ्गण में मारकर गिरा दिया था, संग्राम के आवेश में चपेटों से जिसका शरीर फाड़ दिया गया था, मूर्च्छा के उद्वेग से ज़िमकी ओंखें नाच रही थीं, हुंकार मुख से बाहर नहीं निकलता था, अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिसके अथरोष्ठ अभी पटक ही रहें थे और ज़िमकी मुत्रार्थ शिथिल पड़ गई थी ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविकीरितम् ॥ ११ ॥

ततः समन्ततः समभिव्याप्तमच्युतमच्युतमवेक्षमाणः पाणिना कृपा-  
णमादाय त्रिदशविपश्नेऽपि मोक्षमपेक्षमाण इव अधोक्षजसमक्षमागत्य  
निहितगहनतरनादः सादरं हरिहरिहननाय करं व्यापारयामास । ततः  
समरसमारम्भसंभूतबोररमोत्साहस्फुरितप्रचण्डदोर्दण्डमण्डितप्रतापतपन-  
तेजः प्रभाजनितास्वर्गगणैः पुरः पुरहरादिदुर्धर्षामपं गिरीशगिरिगौरं  
कृतमंग्रामचापलमपि सुररिपुं पुरोऽवस्थितं मशकायमानम्मन्यमानो  
मनुजकेसरी पटुतरकरचपेटेन पाटितवान् । ततः सायमस्तगिरेरधस्तात्  
पनन्तं पतङ्गमिव पुस्तान् पतित हिरण्यकशिपुं स्वजान्वोरुपरि चकर्प ।

तत्र इति—ततस्तदनन्तरं त्रिदशविपश्नः दैत्यः स हिरण्यकशिपुरपि (त्रिद-  
शानां देवानां विपश्नः शत्रुः) समन्ततः परितः समभिव्याप्तं सर्वत्र परिपूर्णम्

लेच्युतम् स्वरूपच्युतिर्विक्रिया तद्रहितम् विष्णुमेव, अवेक्षमाणः परिपश्यन्,  
 मोक्षमपवर्गमपेक्षमाणः अभिलषन्निव अधोक्षस्य श्रीविष्णोः समक्षं प्रत्यक्षमागत्य  
 उपगम्य पाणिना हस्तेन कृपाणमादाय असिमुद्यम्य हरेः हननाय विष्णुं हन्तुं  
 विहितः कृतः गहनतरः गभीरतरः नादः ध्वनिः येन सः सादरं करं हस्तं व्यापार-  
 यामास चालयामास । ततस्तदनन्तरं मनुजकेसरी नृसिंहः समरस्य आयोधनस्य  
 समारम्भे प्रारम्भे सम्भृतेन उत्पन्नेन वीररसोत्साहेन स्फुरिताभ्यां कम्पिताभ्यां  
 प्रचण्डाभ्यां दोर्दण्डाभ्यां भुजदण्डाभ्यां मण्डितस्य अलंकृतस्य प्रतापः तपनः  
 (सूर्य) इव तस्य तेजसः प्रभया कान्त्या जनितेन उत्पादितेन अखर्वेण गर्वेण  
 पुरोऽवस्थितं समक्षे स्थितं पुरहरादिवत् शिवादिवत् यद्वा पुरहरादिभिरपि दुर्धपः  
 दुरभिभवनीयः अमर्षः क्रोधो यस्य तं गिरीशस्य हरस्य गिरिः कैलासः तद्वद्  
 गौरवं गरिमा यस्य तं कृतं विहितं संग्रामस्य युद्धस्य चापलं येन तं तादृशमपि  
 सुररिपुं दैत्यं तं मशकायमानं मन्यमानः मशक इवाचरन् मशकायमानः तं मन्य-  
 मानः मशकवदाचरन्तं तं दैत्यं मन्यमानः, तं मशकाय मत्वेत्यर्थः, स विष्णुः  
 पट्टरेण दृढतरेण करचपेटेन पादितवान् जघान । ततः तदनन्तरं सायं सायंकाले  
 अस्तगिरिः पश्चिमाचलस्याधस्तात् पतन्तं निपतन्तं पतंगमिव सूर्यमिव 'पतंगः  
 पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । पुरस्तात् स्वाग्रे पतितं तं हिरण्यकशिपुं स्वजान्वोरुपरि  
 चकर्ष आकृष्टवान् । 'जानुशब्दो नपुंसके पुंसि च' 'उरुजंघयोर्मध्यमागे' इति  
 शब्दस्तोममहानिधिः । मशकायमानम् इति मशक इवाचरतीति विग्रहे 'कर्तुः  
 क्यङ्सलोपश्च' इति क्यङ् । तस्माच्छान् ।

अत्र प्रागुक्ते संदर्भे नृसिंहदैत्यराजयोपरस्परं युद्धाय समुत्साहः स्थायिभावः ।  
 परस्परमपेक्ष्य स्वस्वाभिमुखस्थितः शत्रुः आलम्बनविभावः । तस्य शस्त्रोद्यमन-  
 भ्रमणादयोऽधिक्षेपवाक्यानि चोदीपनविभावाः । स्वकर्तृकाणि च तान्येवानुभावाः ।  
 'स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीर'मिति आश्चर्यम्, 'स्फुरद्गर्वोत्कर्षादि'ति गर्वः,  
 'यत्कृतान्तेन सार्धं स्पर्धा'सीति ईर्ष्या, 'मूर्च्छाभ्रमल्लोचनमि'ति मूर्च्छा, 'प्रताप-  
 तपनतेजः—प्रभाजनिताखर्वगर्वेण'ति पुनर्गर्वः 'पुरहरादिदुर्धप'मित्यमर्षः एते  
 संचारिभावाः । इत्थमत्र प्रागुक्तविभावादिभिरभिव्यक्त उत्साहो वीररसरूपता-  
 मापद्यमान आस्वाद्यते ।

इदं चात्र न विस्मर्तव्यं यत् अत्र 'सोत्साहमि'ति स्वशब्देन स्थायिभावस्यो-  
 पादानं संचारिणां च अद्भुतादीनां नौचित्यमावहति । तदुक्तं रसदोषनिरूपणा-  
 वसरे साहित्यदर्पणे—'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि' इति ।

इतके पश्चात्, वह सुरारि अपने स्वरूप में स्थित विष्णु को ही चारों ओर देखता  
 हुआ मोक्ष की अभिलाषा से मानो उनके समक्ष पहुँच गया और हाथ में खड्ग लेकर  
 विष्णु पर आक्रमण के लक्ष्य से गरजता हुआ बड़ी ऐंठ के साथ हाथ धुमाने लगा । वाद में,





अपि च—

उग्रक्रोधकृशालुधूमपटलान्यूर्ध्वं विवृद्धानि यत्  
तेनासीदसितं नभोऽपि भगणस्फारस्फुलिंगावलि ।

किञ्चिद् दग्धमधस्तदुज्ज्वलजगद्ज्वालाभिरेतज्जने

सन्ध्याराग इति भ्रमं जनयति प्राच्यां प्रतीच्यां हरेः ॥१३॥

उपेति—हरेः नृसिंहस्य यत् यस्मात् उग्रः विकरालः क्रोध एव कृशालुः अग्निः तस्य धूमपटलानि ऊर्ध्वम् उपरि प्रदेशे विवृद्धानि तेन हेतुना भानां नक्षत्राणां गणाः वृन्दानि एवं स्फारा वितता स्फुलिंगावलयोऽग्निकणमाला यस्मिंस्तत् नभोऽपि गगनमपि असितं श्याममासीत् । तस्य क्रोधाग्नेरुज्ज्वलजगद्द्रुपामिज्वालाभिः किञ्चिदधः प्रदेशे दग्धं प्लुष्टं नभः एतज्जने अस्मिन्मर्त्यलोकावासिनि मनुष्ये प्राच्यां प्रातः वासव्यां दिशि सायं च प्रतीच्यां वारुण्यां दिशि सन्ध्यायाः रागः सन्ध्यारागः, सन्ध्याकालिकोऽरुणिमा इति भ्रमं सन्देहं जनयति । अस्माभिः प्रातःसायं सूर्योदयास्तमयवेलायां च चित्तिजेऽरुणिमा अवलोक्यते वस्तुगत्या स हरिक्रोधाग्निना दग्धस्य द्युलोकाधःप्रदेशस्य प्रकाश एव वर्तते इति उपेक्ष्यते कविना । ‘मं नक्षत्रे गभस्तां स्त्री पुंसि स्याद् भृगुनन्दन’ इति मेदिनी ।

और भीः—

इस ( नृसिंह ) की क्रोधाग्नि से उद्भूत जो धूम-पटल आकाश में जाकर द्या गया था, उसने ही सारे आकाश को काला कर दिया है । साथ ही वहाँ जो तारिकाएँ दिखाई पड़ रही हैं, वह उस क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ हैं । सायंकाल में पश्चिम दिशा की ओर तथा प्रातः में पूर्व दिशा की ओर जो प्रकाश के रूप में सांसारिक मनुष्यों को ज्ञात होता है, वह भ्रम है । वस्तुतः क्रोधाग्नि की लपटों से जला हुआ वह आकाश का अधोभाग है ।

अलङ्कारः—अपहृति । छंदः—SSS ॥S ॥S ॥S SSI SSI S शार्दूलविक्रीटितम् ॥ १३ ॥

अपि च—

अन्याय्यं न कलेवरस्य कलयन् नैवेन्द्रियाणामपि

प्राधान्यं न हि तत्र कर्मकरणे त्वात्मा मदंशस्थितः ।

सर्वानर्थपरंपरापरिणतं चित्तं भवेत् प्रायशो

मत्तैव हृदयं ददार नृहरिर्गीर्वाणनाथद्विषः ॥ १४ ॥

अन्याय्यमिति—नृहरिः नृसिंहः गीर्वाणनाथद्विषः इन्द्ररिपोस्तस्य दानवस्य सकलेऽपि देहे केवलं हृदयमुग्र एव ददार विदारयामास । इतराणि सर्वाणि गात्राणि अधिकलान्येव मुमोचेत्यर्थः । कस्मादेवं कृतमिति तत्र हेतुमाह—कलेवरस्य दानवशरीरस्य इदम् अन्याय्यं न्यायादपेतं कर्म न इति कलयन् विचारयन् नृहरिः—

न तद् ददार । इन्द्रियाणामपि चक्षुरादीनामक्षाणामपि हृदमन्याय्य कर्म न सम्म-  
पतीति तान्यपि जहौ । हि यत् कलेवरे इन्द्रियेषु च स्वस्वकर्मकरणे प्राधान्य  
न वर्तते । मनःपरतन्त्राणि हि करणानि कर्म कुर्वन्ति । आत्मा तु मदश-  
स्थित जीवरूपेण भमैवाश स्थितः । अतः सोऽपि तस्मिन् कर्मकरणे जघन्यकृत्य  
त्रियाया कथमपि न वर्तते असंगादिति भावः । एवमस्याप्यात्मनः तत्र प्राधान्य  
न हि वर्तते इति तमपि मुमोच । 'भमैवाशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति  
स्मृतिः । प्रायशः चाहुर्येन हृद् चित्तमेव सर्वपामनर्थानामकर्मणा या परम्परा तद्  
रूपेण परिणतं वृद्धिं प्राप्तं भवत् स्यादिति मत्वा ज्ञात्वा तदेव हृदयं विदारयामा-  
सेति भावः ।

और भी —

भगवान् नृहरि ने उस दानवरान के हृदय का विदारण यही समझ कर किया कि  
अबिवरर यह चित्त ( हृदय ) ही सब प्रकार की अनर्थ-परम्पराओं से भरा हुआ है ।  
भक्त-पीटन एक अनुचित कर्म है और इस कर्म में शरीर का कोई हाथ नहीं । इन्द्रियों  
भी पराधीन ही हैं, उन का भी दोष नहीं । सारे कर्मों में वे मन से प्रेरणा पाकर  
ही प्रवृत्त होती हैं, और आत्मा तो हमारा ही अंश है, अतः उसका कर्म से क्या संबंध ?

अलंकार — हेतु प्रेक्षा । छन्द — ५५५ ॥ ५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५ शार्दूलविक्रीदितम् ॥ १४॥

अपि च—

प्रज्वलत्क्रोधकृशानुकुण्डे इव चण्डनयने विधाय दीर्घतरदनुजदेहं  
हविरिव स्याहाकारमिव हाहाकारमुच्चारयतो महर्षीन् श्रुत्विज इव तदधि-  
ष्ठातृदेवता सतर्पयन्निव अध्वरहिंसायाः वेदबोधित धर्ममाधनत्यमव-  
धारयन्निव धर्मानुच्छेदपरो भगवान् दीक्षितत्यमङ्गीचकार ।

प्रमल्लिखित—धर्मस्य 'श्रुतिस्मृतिम्यामुदितं यत् स धर्मः' इत्युक्तस्य धर्मस्य  
स्मात्तस्य च कर्तव्यकर्मणः अनुच्छेदं संस्थापने परं तत्परं भगवान् श्रीविष्णु  
प्रमल्लं दह्यमानस्य क्रोधकृशानो कोपवहे कुण्डे इव, कुण्ड होमाधिकरण  
गर्तविशेषः तदिव चण्डनयने प्रचण्डनेत्र विधाय, तत्र दीर्घतरमायतं दनुजदेहं  
दानवराजं हविरिव विधाय साक्षादभिमन्युत्वा 'साक्षात् हविरग्नीं तु हुतं त्रिषु  
चण्डकृतम्' इत्यमरः । स्याहाकारमिव हिरण्यकशिपोरस्याचारेण हाहाकारमुच्चार-  
यतो महर्षीन् श्रुत्विज इव याज्ञकान् कृत्वा 'आग्नीध्राद्यधनैर्वायां श्रुत्विजो या-  
ज्ञकाश्च ते' इत्यमरः । तदधिष्ठातृदेवता यज्ञाधिष्ठातृदेवता सन्तर्पयन् प्रीणयन्निव  
अध्वरहिंसाया यज्ञहिंसाया वेदबोधित वेदसाम्नायैर्बोधित प्रतिपादित धर्ममाध-  
नस्य धर्मोपकरणमवधारयन्निव निरूपयन्निव दीक्षितस्य दीक्षा सज्जाता यस्य

‘तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्’ इति इतच् प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्त्वं यागादिषु घृतनियमत्वमित्यर्थः । अङ्गीचकार स्वीचकार ।

और भी:—

उस समय ऐसा लगा मानो धर्म के संस्थापन में तत्पर रहने वाले भगवान् ने यश में दीक्षा ली हो, अर्थात् वे एक यजमान के रूप में अवतीर्ण हुए हों । इस यश में उनकी दोनों आँखें ऐसी लगती थीं जैसे प्रज्वलनशील क्रोधाग्नि के जुष्ट हों; दीर्घतर दानव की देह ही मानो हवि हो, ऋषिगण ही ऋत्विज् हों और उनका हाहाकार स्वाहाकार की ध्वनि हो । प्रतीत होता था मानो भगवान् स्वयं इस यश के अधिष्ठात् देव को वृत्त कर रहे हों, तथा यश-संबन्धिनी हिंसा वो वेषबोधित होने से समर्थित कर रहे हों ।

ततः संक्षोभोद्भूतनैष्ठुर्यवशाद् दंष्ट्राखादनजातकर्कशरवेण तर्जयन्निव, लोचनार्चिपा दहन्निव, श्वासपवनैः शोषयन्निव, उच्छ्वाससमीरणैराकर्षयन्निव, कुललल्लोलरसनया ग्रसन्निव, चिरतररचितापराधं दैत्याधमं खरतरनखरैर्दारितवान् ।

तत इति—ततस्तदनन्तरं स हरिः संक्षोभात् क्रोधात् उद्भूतम् उत्पन्नं यत् नैष्ठुर्यं क्रौर्यं तदवशात्, दंष्ट्राभिः दंष्ट्राणां खादनेन भक्षणेन जात उत्पन्नः यः कर्कशः खरतरः रवः शब्दः तेन तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव, लोचनार्चिपा नेत्रज्वालाया दहन् मस्मीकुर्वन्निव, श्वासपवनैः श्वासमारुतैः शोषयन् शुष्कतां नयन्निव, उच्छ्वाससमीरणैः उच्छ्वासपवनैः आकर्षयन् बलास्त्वसमीपमानयन्निव । कुललल्लोलैति—कौ पृथिव्यां ललन्ती आस्वाद्यस्वादनाय चलन्ती लोला चपला या रसना जिह्वा, तथा ग्रसन्निव आस्वादयन्निव, चिरतरात् ब्रह्मः कालात् रचितः कृतः अपराधी येन तं दैत्याधमं नीचं दैत्यं खरतरैः तीक्ष्णतरैः नखरैः नखैः विदारयामास ।

अत्र रौद्ररसे हिरण्यकशिपुं प्रति भगवतः क्रोधः स्थायिभावः । हिरण्यकशिपु-रूपः शत्रुरालम्बनविभावः । स्वभक्तप्रह्लादं प्रति पर्वतपातनसमुद्रमज्जनाग्निदाहादिरूपास्तच्चेष्टाः स्मर्यमाणाः उद्दीपनविभावाः कल्प्याः । द्वादशश्लोकोक्तानि कर्माणि अनुभावाः । उग्रतावेगमोहमदादयश्च संचारिभावा आहार्याः । उल्लोका चालंकारो व्यञ्जकतत्तदर्थोपस्कारद्वारोपकारकः । अत्रापि सन्दर्भे तत्र तत्र क्रोध-रूपस्य स्थायिभावस्य स्वशब्देनोल्लेखो नोचितः ।

उस अवसर पर संक्षोभ के कारण जो उनमें अत्यधिक नैष्ठुर्य की भावना जाग्रत हो गई थी, मानों उसी के परिणाम-स्वरूप दातों से दाँतों के चर्वणवश उद्भूत प्रखर ध्वनि के व्याज से उसे तर्जना दे रहे हों, नेत्र से निकलती हुई ज्वाला से उसे जला रहे हों, लम्बे लम्बे दवातों के रूपमें प्रवाहित वायु से जैसे शुष्क बनाते जा रहे हों, उच्छ्वास की वायु से जैसे अपनी ही ओर खींच रहे हों, भूतल में आहवाय के स्वादन में ललचाई

इस चञ्चल जिह्वा से चार रहे हों — इस प्रकार श्री नृसिंह ने चिरकाल से अपराध करने वाले उस राष्ट्रसाधन को अपने तीखे नखों से विनीत कर डाला ।

अथ बीभत्स —

प्रसरनखराधातोद्वदीर्यसुरान्तकवधस

क्षतशतगलद्रक्तोद्विक्तैर्जसान्यपलास्थिभिः ।

सह कफमलैर्मज्जापुञ्जै क्षण परिपश्यतो

जनयतु सता विष्णोरुद्युज्जुगुप्सितमीप्सितम् ॥ १५ ॥

प्रखरेति—प्रसरागा तीक्ष्णानां नखराणां नखानाम् आघातैः उद्दीर्यत विदीर्य-  
माणस्य सुरान्तकस्य हिरण्यकशिपो वधस उरस चताना धनानां दातेभ्यः  
गलत ध्वजम् रक्तात् शोणितात् उद्विक्तैः निर्गच्छद्भिः कफमलैः मज्जायां सारस्य  
धातुविशेषस्य पुञ्जैः समूहैः च सह यसा वपाच्च, अन्य पुरीतत् च, पलं मांसं च,  
अस्थि कीकस च तेषामितरेतरयोगे तैः परिपश्यत वीक्षमाणस्य जनस्य चण  
स्वल्पकालम् उद्यत् प्रादुर्भूतत् जुगुप्सित जुगुप्सा यत्र तद् विष्णोः कर्मेत्वन्यपदार्थं  
भूत विशेष्यमप्याहार्यम् । सतां सञ्जनानाम् ईप्सित मनोरथं जनयतु पूरयतु ।  
'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । 'कीकस कुल्यमस्थि च' 'अन्य पुरीतत्' 'सारो  
मज्जा' 'स्याद्यामिपे पलम्' इत्याद्यमरः ।

अब बीभत्स वर्णन उपस्थित कर रहे हैं—

विष्णु का वह ( विचारण ) कर्म समजनों के समीहित को परिपूर्ण करे, जिसे देखने  
वालों में जुगुप्सा की रात्रि अद्भुत एवं प्रदीप्त हो उठती है । कारण यह है कि वह कर्म  
देमा है, जिसमें नुरीठे नखों के आघात से विदीर्यमाण दानव के वक्षस्थल में सैकड़ों  
घाव हो गए हैं और उन घावों से रक्त की धारा फूट पड़ी है, साथ ही रक्तसाव के  
अतिरेकवश वसा, मल, मांस, अस्थि, वध, एवं मज्जा का पुञ्ज निर्वाध बाहर चला चला  
आ रहा है ।

छन्दः—III II 5 5 5 SI 5 II 5 IS इरिणी ॥ १५ ॥

अपि च—

धिग्दुःशरीरमिदमत्र शरीरभाजाम्

उर्ध्वं कफ श्रवणनेत्रमल प्रसूते ।

अन्तर्विभर्ति रधिरास्थिपलान्यधस्तात्

मूत्र पुरीषमिति पातु हरेर्जुगुप्सा ॥ १६ ॥

वि० वि०—अत्र लोके शरीरभाजां देहिनाम् इदम् अद्वौ दुःशरीरं दुष्ट कलेवरं  
धिक् । यस्य शरीरम्योर्ध्वमुपरिभागं तिर इत्यर्थः । मुखेन कर्कं प्रसूते उपाद्यति

श्रवणाम्यां कर्णाभ्यां नेत्राभ्यां च मलं प्रसूते जनयति । अन्तश्च यो देहो रुधिरं रक्तं च, अस्थिकीकृतं च, पलं मांसं च तानि विभर्ति धारयति । अधस्ताच्चाभेरधोभागे च मूत्रं पुरीषं च विभर्ति । इति दृष्ट्वा जायमाना हरेर्विष्णोः जुगुप्सा घृणा नः सर्वान् पातु अवतु । आशिषि लोट् ।

इस संसार में शरीरधारियों के उस घृणित कलेवर को धिक्कार है, जिसका शिरोभाग मुख के रास्ते कफ फेंकता हो, ओत्र एवं कर्ण के द्वारा मल पैदा करता हो, अन्तर में रुधिर, अस्थि, एवं मांस धारण करता हो और जिसके अधोभाग में मूत्र एवं मल की स्थिति हो । ऐसे शरीर को देख कर उदित हुई विष्णु की जुगुप्सा हम सब की रक्षा करे ॥

छन्दः—ऽऽ। ऽ। ।। ऽ। ऽ। ऽऽ वसन्ततिलका ॥ १६ ॥

अपि च—

द्वैत्यारातेर्नखेभ्यः सपदि कृतभरैः स्वीयदेहोदगतेभ्यः

भूयो रक्ताभिपेकैरुपरिपरिपतन्मांसखण्डोपहारैः ।

आत्मज्योतिःप्रकाशः प्रचुरसुमनसोऽप्येव हुंकारगर्भैः

मन्त्रैरन्योपवीतैः सुररिपुरकरोत् प्रेमपूजोपचारम् ॥ १७ ॥

द्वैत्येति—स्वीयात् आत्मनः अर्थात् हिरण्यकशिपोः देहात् कायात् उदरमध्यादित्यर्थः । उदगतेभ्यः निर्गतेभ्यः द्वैत्यारातेः विष्णोः नखेभ्यः ( हेतौ पञ्चमी ) सपदि तत्कालमेव कृतभरैः कृतो भरो भरणं नखजगर्तपूरणं यैरिति रक्ताभिपेकविशेषणम् । भूयोरक्ताभिपेकैः प्रभूततरशोणितस्नानैः स्नपनैर्वा उपरि पतद्भिः मांसखण्डोपहारैश्च अन्त्राणि पुरीतन्ति एव उपवीतानि यज्ञोपवीतानि तैर्हुंकारगर्भैर्मन्त्रैश्च आत्मनः स्वस्य ज्योतिषः तेजस एव प्रकाश एव सुररिपुः सुरारिः प्रचुरसुमनसः विष्णोः प्रेमपूजोपचारं प्रेम्णा भक्त्यतिशयेन पूजा परिचर्या तस्या उपचारं सेवनं व्यवहारं वा अकरोत् । यदा विष्णुर्हिरण्यकशिपोः उदरदरीमुद्दहार तदा तस्योदरात् बहुशोणितं मांसादि च वह्निर्निरगमत् । कविरत्रोपेक्षते यत् स सुरारिः नूनं तेन रक्तादिना विष्णुमपूपुजत् । प्रचुरं सुष्ठु च मनो यस्य स प्रचुरसुमनास्तस्य अथवा प्रचुराः प्रभूताः सुमनसो देवाः यस्य स तस्य । सर्वदेवमयत्वाद्विष्णोः । यतो विष्णुः प्रचुरसुमना अतस्तस्य पूजां सुमनोभिरकरोत् किंतु असुरजातिस्वाभाव्याद् भक्त्यतिशयात्साहसिकत्वाच्च स्वकीयमांसरुधिरादिभिरेवेति भावः ।

उस अवसर पर मानों इस देवद्वैधी हिरण्यकशिपु ने अपने उदर के मध्य की विदीर्ण छेद बाहर निकले हुए विष्णु के नखों से उद्भूत धातों को भरती हुई रक्तधारा से अभिपेक,



भावः कल्प्यः । संचारिभावा अपि मोहावेगादयः कल्प्याः । अत्र जुगुप्सारूप-  
स्थायिभावस्य पुनः पुनः स्वशब्देनोक्तिरत्यन्तमनुचिता ।

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये तृतीयोच्छ्वासः ।

इस समय, यह अतीव निन्दास्पद एवं मेरे लिये अनुचित जान पड़ता है कि कहीं  
यह शरीर और कहीं मेरी संस्थिति ? दोनों में कोई सङ्गति नहीं । उसका कारण यह है कि  
शरीर के सभी अवयव नितान्त जुगुप्साजनक हैं । पहले मुख ही को लीजिये, वह दोनों  
आँखों और कानों से निःसृत, निर्मल जिह्वा से गलित, लोल कण्ठ एवं नासिकासे निगंत  
कफादि मलों से भरा हुआ है । दूसरे यह कि प्रवाहित होता हुआ रुधिर का प्रवाह अपने  
भीतर मज्जा पुञ्ज को लिए हुए सारे शरीर को भरे हुए है । और विचारपूर्वक देखा जाय  
तो यह शरीर क्या है ? मेदा, मांस, वसा की समष्टि ही तो एकत्र है । और देखिये, नाटी  
रूपी मूचिकाओं से सिली हुई असंख्य हड्डियों के पथर में मलराशि इकट्ठी है जिमसे  
जुगुप्साजनक गंध निकलती है । अधिक क्या कहें, चमारों के क्षार जल से आर्द्र चर्म  
को जो दशा है, वही बहते हुए मूत्र-प्रवाह से आर्द्र शरीर की स्थिति है । अब सोचने  
की बात है कि ऐसे कुत्सित शरीर से संबंध रखना मेरे लिए कितना अनुचित है ? उसमें  
भी इस लीलाविग्रह के हाथों से स्पर्श तो नितान्त गर्हणीय है—इस प्रकार श्वासावरोध-  
पूर्वक मायणप्रवण भगवान् नरसिंह का दृश्य जुगुप्सा से भर उठा ।

नृसिंह चम्पू का यह तृतीय उच्छ्वास समाप्त ।





**अथ चतुर्थं उच्छ्वासः**

**अथाद्भुतः—**

हाहाकारं विदित्वा जगति दिविषदोऽनल्पकन्यान्तकल्पं,

प्रोद्यच्छ्रंकाकलंका अवनिमवययुः स्वैर्विमानैरमानैः ।

दूरादालोक्य लोकाद्भुततरवपुषं दीर्णदैत्येन्द्रदेहं,

पद्मां पद्मोद्भवादिप्रथितगुणगणां विस्मिताः प्रोचुरुच्चैः ॥ १ ॥

हाति—एवं दैत्येन्द्रधनान्तरं दिविपदो देवाः 'आदितेया दिविपदो लेपा-  
अदितिनन्दना.' इत्यमरः । जगति मर्यादोके अनल्पकल्पान्तरकल्पम् अनल्पश्चासौ  
कल्पान्तश्च तद्वत्प्रत्येककालसदृश हाहाकारं विदित्वा ज्ञात्वा श्रुत्वा वा प्रोद्य-  
च्छुद्धाकलंकाः प्रोद्यन् उद्वगच्छन् आदुर्भवश्चित्यर्थः, शकाकलंकाः आतंकपंकः येषां ते  
विस्मिताश्च सन्तः देवाः अमाने' प्रमाणरहितैः अतिविशालैरित्यर्थः, विमानैर्वायु-  
यानैः अयनिम् धरणिम् अवययुः अग्रहरद्भुः । देवाः स्वर्गाद् धरण्यामायचित्यर्थः ।  
आगत्य च देवाः लौकान्नुत्तरवपुषं लोकैर्मयः अद्भुततरं विलक्षणतरं वपुः शरीरं  
यस्य तं, दीर्घदैत्येन्द्रदेहं दीर्घं, त्रिदीर्घः दैत्येन्द्रस्य हिरण्यकशिपोः वेहो येन तं  
त्रिभुजं दूरादवलोक्य पद्मोद्भवादिप्रथितगुणगणां पद्मोद्भवो ब्रह्मा तत्प्रभृतीनां देवानां  
प्रथितां कृपातां गुणगणा यस्यास्तां सर्वदेववन्द्यामित्यर्थः । तां पद्मां विष्णुपत्नीं  
लक्ष्मीम् उच्यैः स्फुटं प्रोक्षुः अवोषन् । भीतास्तदा देवाः दैत्यारातेः प्रमादार्थं जग-  
न्मानतरं लक्ष्मीं वक्ष्यमाणप्रकारेण वृष्टयुरित्यर्थः । 'पद्मा कमला श्रीहरिप्रिया' इत्यमरः ।

अद्भुत-रसमय वर्णन से आरम्भ किया जा रहा है।

समर में प्रलयकाल के समान हाहाकार सुनकर देवगण आतङ्क-ग्रस्त हो गए और अपने अपरिमेय विमानों से भूतल पर उतर आए। दूर ही से लोक में अद्भुत रूप वाले दैत्येन्द्र के दैह की विभीषण देखकर, मन्ना आदि देवों में विरवात शुगलावाली विष्णु-पत्नी की विस्मयाविष्ट देवताओं ने उच्च स्वर में कहा।

छन्दः—ॐ शिः शिः ॥ १२ १२ १२ सव्यसु ॥ ६ ॥

किमुचूर्द्धवा इत्याकांद्याह—

मातृर्जगन्ननि ? पद्मरुताधिवासे ! कोपं निवारय हरेर्मुग्धनस्य ।

नो चेच्चिरं रक्षितचारुचराचरस्य सन्तोषधीक्षणवशाद् भविता विनाशः ॥२॥

मातरिति—परो कमले हृतो त्रिहितोऽधिवासो निवासो यथा सा तत्संयुद्धो  
हे पद्मकृताधिवासो ? पद्माख्ये हृष्यधः । जगतः जगन्मयस्य जननी उत्पादयित्री,  
सत्संयुद्धो हे जगज्जननि । मात । कमले ? दाक्षि मुरमर्दनस्य मुरं दौषवितोषं मर्द-

यति हिनस्ति इति तस्य हरेरित्यर्थः, कोपं क्रोधं निवारय अपगमय । नो चेत् अन्यथा यदि विष्णुकोपं त्वं शीघ्रमेव न शमयिष्यसि तर्हि विष्णोः सक्रोधवीक्षण-  
वशात् सक्रोधावलोकनवशात् सक्रोधं यद् वीक्षणं तद् वशात् चिरं चिरकालं यावत्  
प्रयत्नेन रचितस्य, चारुणः मनोहरस्य अस्य चराचरस्य जगतः विनाशः प्रणाशः  
भविता भविष्यति, सद्य एव नन्दयति जगदेतदित्यर्थः ।

देवताओं ने कहा—

हे माता ! हे जगज्जननी ! हे पद्मवासिनी ! मुरारि के क्रोध को शान्त करो: अन्यथा  
शोककाल का रचित चराचर जगत् इनके क्रोधपूर्ण वीक्षण से ध्वस्त हो जायगा ।

छन्दः—SS। S।। ISI। ISI SS वसन्ततिलका ॥ २ ॥

लक्ष्मीः—

सिंहः सिंह इति प्रथा प्रथमतः पञ्चन्तरोऽयं नरः

पश्चादेव नृकेशरीत्यतितरामाश्चर्यमुज्जृम्भते ।

नैतादृक् क्व च वीक्षितं न च कदाप्याकर्णितं भोः सुराः ?

स्वान्तं किंतु नितान्तमद्भुतरसे मग्नं ममास्ते मनाक् ॥ ३ ॥

सिंह इति—लक्ष्मीरुवाच । भोः सुराः अयि देवाः ? प्रथमतः पूर्वं सिंहः सिंहः,  
सिंहोऽयं सिंहोऽयमिति प्रथा ख्यातिः 'प्रथा ख्यातौ' इत्यमरः । पश्चादनन्तरमयं नरः  
अयं नरः इति प्रथा पश्चात् परस्तात् च अयं नृकेशरी नृसिंहोऽयमिति अतितराम-  
त्यर्थमाश्चर्यमुज्जृम्भते । हे देवाः ? मया अधावधि एतादृक् क्वचनापि न च वीक्षितं  
दृष्टं न च कुत्रापि आकर्णितं श्रुतम् । किन्तु तथापि, प्रथमत उद्भूतात्यन्ताश्चर्यस्य  
भगवतोऽलौकिकशक्तिविचारेण निवारणेऽपीत्यर्थः । मम स्वान्तं मनः 'स्वान्तं  
हन्मानसं मनः' इत्यमरः । अस्मिन् नितान्तमतिशयेन अद्भुतरसे मनागूर्ध्वपत्काल  
मग्नं निमग्नम् आस्ते वर्तते । 'मनागित्यव्ययमीपदर्थं सन्दे च' इति शब्दस्तोम-  
महानिधिः । भगवतो लोकातिशायिशक्त्या इच्छाविग्रहवत्त्वं ज्ञातवत्या अपि  
अदृश्युतपूर्वविग्रहावलोकनादीपत्कालमाश्चर्यं चेतस्युदेत्येवेति भावः ।

फिर लक्ष्मी ने कहा—

पहले पहल जिन लोगों ने देखा, उन लोगों ने तो यही फैलाया कि—यह सिंह है  
सिंह । पर जब फिर ध्यान से देखा, तो मनुष्य; अंत में लोगों ने तब किया कि यह  
सिंह का मिथित आकार है—बड़ा आश्चर्य हो रहा है । हे देवगण ! न तो मैंने इस  
आकार का प्राणी कहीं देखा और न सुना; इसीलिए क्षणभर के लिये मेरा अंतः करण  
अमुन रस में डूब गया है ।

छन्दः—SS ॥S ISI ॥S SSI SSI S शार्दूलविक्रीटितम् ॥ ३ ॥

अपि च—

पित्रा या हनन शिशोः प्रजननं स्तम्भाच्च सम्भावितम्  
विष्णोर्वा नृशरीरमस्ति कुहचित् सिहाङ्गसंमिश्रितम् ।

इत्याश्चर्यपरम्परा-परिणति-व्याधूत-धैर्य मनो

नाद्यापि स्थितिमेति मे सुमनसं किं तत्र कृत्यान्तरम् ॥ ४ ॥

पित्रेति—किं क्वचित् पित्रा शिशोरात्मजस्येत्यर्थः, हननं हत्या सम्भावितं, न केनापि सम्भावितमित्यर्थः । किं च, क्वचित् स्तम्भात् प्रजननं कस्याप्युत्पत्तिः सम्भाव्यते, न केनापि कदापि सम्भाषयिष्येति शक्यमेतत् । अथवा किं क्वचित् विष्णोर्हरे मिहाङ्गसंमिश्रितं सिहस्य केसरिण अगौ अवयवैः समिश्रितं मिलितं नृशरीरमस्ति, नरसिंहरूपेण प्रादुर्भूतं सम्भाव्यते किम् ? अर्थात् किं क्वचित् केनापि विष्णोर्नृसिंहरूपेण प्रादुर्भूतमद्य यावद् दृष्टं श्रुतं वा ? न श्रुतं नापि च दृष्टमित्यर्थः । सुमनसो देवाः । इतीत्यमाश्चर्याणां परम्परायाः परिणत्या परिणामेन व्याधूतं त्रानितं धैर्यमवष्टम्भो यस्य तत्तादृक् मे मनः वर्तते इति शेषः । तच्च तथा भ्रान्तं मे मानसमद्यापि स्थिति स्थिरतां न एति । न प्राप्नोति । तत्र एवमिदं व्यतिकरे किं कृत्यान्तरं किमन्यत् कार्यं कर्तुं शक्यते । 'सुषर्वाङ्गः सुमनसमिश्र-दिशेना दिशौक्य' इत्यमरः । सिंहस्य केसरिणः अगेन अवयवेन समिश्रितं समिलितम् ।

और भा —

मला कमी यह देखा या सुना है कि पिता अपने पुत्र की हत्या करता है ? कहीं यह भी सुना है कि रत्नम् से कोई पैरा हुआ है ? मला कमी विष्णु की आकृति नृसिंहाकार हुई है ? इन सब आश्चर्य-परम्पराओं की परिणति से धर-धर कोपना हुआ मेरा मन अब तक भी अपने आपे में स्थिर नहीं हो सका है । ऐसी स्थिति में हे देवगण ! माफ़ हो बताइए, और कौन सा अन्य कार्य किया जा सकता है ? जहाँ अपने चित्त को ही मैं स्थिर नहीं कर पाती, वहाँ और क्या कर सकती हूँ ?

छन्दः—SSS 15 13 15 SSS 22 5 शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

देवाः—

अहो ! महदाश्चर्यमेतद् अस्माभिरकस्मादनुभूयते यन्मनोपि भ्रमवि-पयमकाण्डताण्डयितमिव, निमुत्तरकालानयस्थायां चिरसमयाप्रलोकित-स्वप्न इव, निमाहोस्यन्तुरमर्दनस्य मनोविनोदजनकस्यमायाविलमित-मिमेति सशयविषयदूषितमनसः—सुमनसोऽपि कादिशीका इव स्म ।

अथ किं पुनर्वयं, मधुसूदनसुन्दरीन्दिरापि अननुभूताद्भुततररूपदर्शनाद् विस्मिताऽस्मदनुकंपाकलितचित्ताऽद्यापि पुरः प्रचलितुं न साहसमवलम्ब्यते ।

इत्यद्भुतः ।

अहो इति—अहो इत्याश्चर्यसूचकमव्ययम् । अस्माभिरद्य अकस्मात् अतर्कितोपनतमित्यर्थः, एतत् महत् आश्चर्यमनुभूयते अनुभवगोचरीक्रियते । यद्यस्मात् किम् अकाण्डताण्डवितम् असमयसञ्जातताण्डवमिव भ्रमविषयं भ्रान्तमिदं मनोऽनुभूयते, अर्थात् अयं सर्वा दृश्यमानो नृसिंहप्रादुर्भावादिरूपो मनःकल्पित एवास्माभिरनुभूयते । अथवा किमुत्तरकाले अनवस्थायी न स्थातुमर्हः चिरसमये पूर्वं कदाचिदिह जन्मनि परस्मिन् वा जन्मनि अवलोकितः स्वप्न इव अनुभूयते । आहोस्वित् अथवा किसिदं सर्वं सुरमर्दनस्य श्रीविष्णोः मनोविनोदजनकं स्वमायाया विलसितं विचेष्टितमिव वर्तते इति शेषः, इतीत्थं संशयविषयेण संशयरूपेण विषयेण दूषितं परिभूतं मनो येषां ते वयं सुमनसोऽपि सुष्ठु मनो येषां ते देवाः सन्तोऽपि स्थितप्रज्ञाः सन्तोऽपि वयं कान्दिशीका इव स्मः । भीताः सन्तः कर्तव्याकर्तव्यविमूढा इव जाताः स्मः । अथ किं पुनर्वयं, अथवा अस्माकं तु कैव कथा, स्वयं मधुसूदनस्य विष्णोः सुन्दरी प्रिया इन्दिरा लक्ष्मीरपि अननुभूतस्य पूर्वं कदापि अदृष्टस्याश्रुतस्य च अद्भुततरस्य रूपस्य दर्शनाद् विस्मिता सती अस्माकमनुकम्पायाम् आकलितं धारितं चित्तं मनो यया सा सती । 'अस्मदनुकम्पाकलितचिन्तेति' पाठे अस्मासु दययाऽकलिता गृहीता चिन्ता कथं लोकस्य कल्याणं भविष्यतीत्येवंरूपा यया सेत्यर्थः ।

अत्र अद्भुतरसे विस्मयः स्थायिभावः । लोकाद्भुतं नृसिंहशरीरमालम्बनम् । तच्चाद्य श्लोके लोकाद्भुततरवपुषमित्यनेन विशेषणेनोक्तम् । दीर्णदैत्येन्द्रदेहमित्यनेन दैत्येन्द्रदेहदारणरूपा तच्चेष्टा उद्दीपनविभाव उक्तः । प्रोद्यच्छृङ्गाकलंका इति भयरूपो व्यभिचारिभाव उक्तः । विस्मिता इति विस्मयस्य स्थायिभावस्य स्वशब्देनोपादानं तु नोचितम् । द्वितीयपद्योक्तो भगवतः कोपोऽपि सञ्चारिभाव एव—नृतीयचतुर्थपद्योक्तैरुद्दीपनविभावैश्च स्थायिनो विस्मयस्य पुष्टिरेव क्रियते । भ्रमविषयमकाण्डताण्डवमिति भ्रान्तिः, किमुत्तरकालानवस्थायीत्यादि वितर्कः, कान्दिशीका इवेति भयम्, अस्मदनुकम्पाकलितचिन्तेति चिन्ताकारुण्ये, एतेऽपि सञ्चारिभावाः । इत्याश्चर्यपरम्परापरिणतिन्याधूतधैर्यं मनो नाद्यापि स्थितिमेति इति मनोजनवस्थानरूपः सगभ्रमोऽनुभावः । अन्येऽपि स्तम्भस्वेदरोमाञ्चगद्गदस्वरभाषणादयोऽनुभावा आक्षेप्याः ।

इति अद्भुतरसनिरूपणम् ।

देवताओं ने वह.—

अहो ! इस समय यह महान् आश्चर्य हो रहा है कि क्यों यह मन एकाएक उदय-पुष्प का अनुभव करता हुआ भ्रान्त हो गया है ? जो कुछ भी सामने दिखाई पड़ रहा है, यह मत्त है ? अथवा शीघ्र अदृश्य हो जाने वाला दृष्ट पुरातन साकार स्वप्न है ? अथवा मुरारि का मनोविनोदिनी भाषा का क्षणिक विलास है ? क्या कारण है कि उक्त विवरणों में अस्वस्थ चित्त वाले हम स्थितप्रज्ञ देवताओं को भी डर के मारे विमिश्रा में जाकर छिपें—यह वृत्ति उत्पन्न हो रही है ? और हम लोगों की ही क्या बात है स्वयं विष्णुपत्नी लक्ष्मी भी इस अननुभूत अद्भुततम रूप को देखकर प्रिस्मित हो उठी हैं । यही कारण है कि यद्यपि वे हम लोगों पर अत्यन्त कृपाशील हैं, फिर भी कुछ कर नही पा रही हैं ॥

यहाँ तक अद्भुत रम का निरूपण हुआ ।

अथ हास्यरसः—

परस्पर-प्रेषण-कातराणां शंकातुराणामिह सत्यराणाम् ।

सवेग-संलापयचो-विचारैः क्षणं सुराणां समभूद् विनोदः ॥ ५ ॥

परस्परेति—अथ तदद्भुतदर्शनानन्तरं संवेपां सुराणां परस्परमेव वक्ष्यमाण-प्रकारेण सुमहान् विनोदोऽभवत् । परस्पर मिथः प्रेषणाय श्रीविष्णोः समीपे गमयितुं कातराणां चञ्चलानामधीराणां वा शंकातुराणाम् आतंकश्याकुलानां सत्यराणां सटितिकारिणां सुराणां सुमनसां सवेगसंलापे ससम्भ्रमालापे जातैर्वचोविचारैः वाग्भिर्विचारैश्च क्षणं मुहूर्तं विनोदः पारस्परिक हास्यमिष्यथं समभूत् । 'कातरोऽधारे चञ्चले भीति' इत्यादि शब्दस्तोममहानिधिः ।

अब हास्य रम का निरूपण आरम्भ किया जा रहा है ।

[ इस अद्भुत जीव का दर्शन होने पर ] आपद्भ्यस्त, स्वराशील एवं परस्पर एक दूसरे को ( विष्णु के समीप ) भेजने के लिए चञ्चल चित्त वाले देवताओं में जो कुछ देर तक आलाप होते रहें, उन अवसर पर व्यक्त किये गये शब्दों एवं विचारों को लेकर उनमें काफी विनोद होगा रहा ।

छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ उनेन्द्रवज्रा ११ वर्णों का वृत्त है ॥ ५ ॥

तत्रादौ गणेशः—

आनीतोऽहमिमाननो मृगपतिं देवैरहो वैरिभिः

किं कुर्यामिति भीतिमंगुरतया संकोच्य तां शुण्डिकाम् ।

कर्णाभ्यां च पिधाय यान्तमचिरालम्ब्योदरं धायतो

भारप्रस्थलदुन्दुरोर्निपतितं दृष्ट्वा जहामाच्युतः ॥ ६ ॥

आनीत इति—अहो इति विपादे । अहम् इमाननो गणेशः वैरिभिः देवैः मृग-  
यतिमिमं नृसिंहम् आनीतः प्रापितः । अर्थात् इमे सखिभूताः अपि वैरायमाणा देवा  
मां गजास्यं नृसिंहसमीपे आनीतवन्तः । इदानीमहं किं कुर्याम् किं करवाणि इति  
भीतिभंगुरतया भीत्या भंगुरत्वेन आत्मनस्तां शुण्डिकां करं संकोचं प्रापय्य तां  
च शुण्डिकां निजकर्णाभ्यां पिधायाच्छाद्य यान्तं मूपिकं निजवाहनमारुह्य गच्छन्तं  
शवतोऽभिधावतः अत एव भारेण गणेशभरेण प्रस्खलतः प्रभ्रश्यत उन्दुरोः  
निजवाहनभूताद् आखोः निपतितं लम्बोदरं गणेशं दृष्ट्वा अच्युतो विष्णुः जहास  
हसितवान् । 'शोके धिगर्थे विपादे दयायाम्' इत्यादिपदार्थेषु अहो इत्यव्ययमिति  
शब्दस्तोममहानिधिः । 'उन्दुरमूपिकोऽप्याखुः' इत्यमरः ।

इस अवसर पर सबसे पहले गणेश ने कहाः—

बड़े खेद की बात है कि इन वैरी देवताओं ने मुझ गजानन को सिंह के सामने  
शकर खड़ा कर दिया । अब क्या करूँ ? इस विचार के अनन्तर भय-त्रस्त गणेश ने  
अपनी शुण्ड को लपेट कर कानों से ढँक लिया और दौड़ाया मूपक को । भार था अधिक,  
इसलिए उस मूपक में कुछ खलन हुआ और फल स्वरूप लम्बोदर गणेश को नीचे आना  
पड़ा । इस स्थिति को देखकर भगवान् हंस पड़े ॥

इन्द्रः—ऽऽऽ ॥ ५ ॥ १ ॥ ५ ॥ ५ ॥ ५ ॥ ५ ॥ शार्दूलविक्रीटितम् ॥ ६ ॥

अपि च—

विष्णो ? विष्णोः समीपं व्रज यजनशतैः प्राप्तमिन्द्रत्वमेतद्  
देवः संयातु पाथःपतिरिति मघवन् ? मेऽस्ति कान्ता नवोढा ।  
चित्ते वित्तेश ? धैर्यं कुरु मम शिशवो हन्त पश्यन्ति मार्गं  
वायो ? वायो ! यजत्रप्रिय उरगपतिः पृष्ठतः किं न दृष्टः ॥ ७ ॥

विष्णो इति—गणेश उवाच अथवा देवा ऊचुः । हे विष्णो ? हे इन्द्र ? अत्र  
विष्णुपदेन इन्द्रव्यपदेशः श्लोकस्य द्वितीये चरणे 'मघवन्' इति सम्बोधनपदात्,  
'यजनशतैः प्राप्तमिन्द्रत्वमेतद्' इति वाक्याच्च । इन्द्रात्मनो व्यापकत्वं वेदेष्टि  
इति विष्णुरिति व्युत्पत्तेराधायकम् । यथा विष्णुर्विकल्पोद्भूत इत्यद्वैतसिद्धि-  
संगलश्लोके विष्णुपदं गौडब्रह्मानन्देन व्यापकं जीवस्वरूपमित्यर्थकं श्रोगेन  
व्याख्यातम् । प्रथमस्यापि विष्णुपदस्य पष्ठयन्तत्वे तु सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । त्वमेव  
विष्णोर्नृसिंहस्य समीपं व्रज गच्छ इत्युक्त इन्द्र आह । मया यजनशतैः शत-  
संख्याकैरश्वमेधैर्महता क्लेशेन इन्द्रत्वं इन्द्रपदं लब्धमतस्तद्भ्रंशमिया नृसिंह-  
समीपं न गच्छामि किन्तु पाथःपतिः पाथसां जलानां पतिर्देवो वरुण इत्यर्थः,  
समीपं न संयातु व्रजतु । तदा स वरुण उवाच हे मघवन् ? हे इन्द्र ? मे  
मम नवोढा नवपरिणीता कान्ता अस्ति सा मम मार्गं वीक्षमाणा तिष्ठतीत्यर्थः ।

तदा वित्तेशः प्रार्थ्यते । हे वित्तेश ? हे धनाध्यक्ष कुबेर ? त्वमेव वित्तेश मनसि धैर्यं कुरु । त्वमेव मनसि धैर्यमाधाय विष्णोः पार्वमुपमाहि । तदा स धनद उच्यते—  
हन्तेति खेदे । वनेत्यपि । मम शिशवोऽर्मका मे मार्गं परयन्ति । तदा स वायु-  
मूचे । वायो ? हे वायो ? द्विरुक्तिः सम्भ्रमे । सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधाप्रयोगो  
न्यायमिदं हस्यनुशासनबलात् । त्वमेव विष्णुसमीपं धजेत्युक्तो वायुरयदत् । भो  
अहमपि जन्तुमक्षयः । कारणमाह—किं युष्माभिर्वज्रप्रियो यजत्रस्य यजमानरूपस्य  
विष्णोः प्रियः उरगपति शेषः पृष्ठेन विष्णुमुपसेवमानो न दृष्टः, स उरगपति-  
र्मांसशिष्यति । यतो ह्यहं तस्यादानम् ।

[ फिर देवताओं ने कहा—] हे इन्द्र ! तुम्हीं नृसिंह के पास जाओ । [ इन्द्र ने उत्तर दिया —] मैंने भी यश करके [ बड़े क्लेश से ] इस पद को प्राप्त किया है । अतः जल-  
पति वृष्ण ही उनके पास जायें । [ इस पर वरुण ने उत्तर दिया कि ] हे इन्द्र ! हमारी पत्नी अमी नववधू है अर्थात् मैं उसे अमी विवाहोपरान्त लाया हूँ [ वह मेरा रास्ता देख रही होती ] । सब लोगों ने वित्तेश कुबेर से प्रार्थना की और कहा, भाई ! तुम्हीं वित्त में धैर्य धारण करो [ अर्थात् धैर्य के साथ जाओ ] । इस पर धनद ने उत्तर दिया—  
बड़े क्लेश की बात है कि मेरे छोटे-छोटे बच्चे मेरा रास्ता देखते होंगे । फिर लोगों ने कहा—हे वायु ! तुम्हीं विष्णु के पास जाओ । वायु ने उत्तर दिया क्या तुम लोगों ने विष्णु के पास उनकी सेवा में तत्पर उरगपति को नहीं देखा है ? ( और जब देखा है तो जानने ही हो, कि वायु सर्प का भक्ष्य है ) ।

द्युन्दः—SSS S1S S11 111 1SS 1SS 1S सम्भरा ॥ ७ ॥

अपि च—

अग्रे याहि शशाङ्क ? यन्निजवपुःपीयूषतः पोषिता-  
एतावत्समयं मया सुमनसः किं तस्य चैतत्फलम् ।

अग्ने गच्छ पुरो मुखं मखमुजां युष्माकमेयास्म्यहं

मन्त्रादो समुपस्थिते किमशनं वक्त्रान्तरान् सेत्स्यति ॥८॥

अग्रे इति—तदा देवा उचुः । हे शशाङ्क ? हे चन्द्र ! अग्रे याहि त्वं विष्णुमुपया-  
हि । तदा स चन्द्रो देवान्प्रत्यभाषत । हे सुमनसः हे देवाः ? मया यत् एतावत्सम-  
यमियन्त कालं यूयं निजवपुःपीयूषतः स्वशरीरामृतफलाभिः पोषिताः पुष्टिं नीताः  
तस्य वा तस्यैव पोषणस्य मह्यम् एतत् फलं प्रदीयते युष्माभिः किम् ? तदा देवा  
अग्निमूचुः । हे अग्ने ? हे वद ! त्वं पुरोऽग्रे गच्छ । तदा अग्निर्देवान्प्रत्यवदत् । भो  
देवाः अहं ( वद्वि ) युष्माकं मखमुजां देवानां मुखमस्मि । अहमेव युष्माकमुदरे  
खाद्यपदार्थान्प्रापयामि । मम नाभो उपस्थिते सति किं युष्माकमशनं भोजनं  
वक्त्रान्तरात् अन्यस्मान् मुखान् सेत्स्यति सम्पश्यते ? न सम्पश्यते ह्यर्थः ।

सम्पादनाभावे च युष्मन्मरणमेव ध्रुवम् । अतोऽहं न प्रेषणीयः । 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः ।

और भीः—

हे चन्द्र ! फिर तुम्हीं उनके समक्ष जाओ । इस पर चन्द्र ने कहा कि क्या जो मैंने अपने शरीर से झरते हुए अमृत को पिला-पिला कर देवताओं को परिपुष्ट किया, उसीका वह फल है ? [ कि तुम देवगण सुखे वहाँ भेज रहे हो ? ] [ अच्छा, फिर ] हे अग्ने ! तुम्हीं सामने जाओ ! [ अग्नि ने उत्तर दिया ] हे देवगण ! मैं ही तो आप लोगों का मुख हूँ ? जब मेरा ही नाश हो जायगा, तब क्या तुम लोग दूसरे मुख से खाओगे ? [ सारांश यह कि तुम लोगों को दूसरा मुख तो है नहीं, जिस से खाओगे ? फल यह होगा कि मेरे मरते ही तुम सब मर जाओगे ] ॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८ ॥

अपि च—

धातस्तात त्वमग्रे भवसि भगवतामग्रणीदैवतानाम्  
विष्णोः कोपानलोऽयं ज्वलयति च सुराः ? कूर्चपंक्तीः सुदीर्घाः ।  
इत्थं गीर्वाणवाणीमतिकृपणतरां प्रस्खलद्वर्णवाक्या-  
माकर्ण्योत्फुल्लगल्लप्रहसितवदनं शार्गिणोऽस्मान्पुनातु ॥ ९ ॥

धातरिति—अग्निरुवाच तात ? ब्रह्मन् ? भगवतां पूज्यानां दैवतानामग्रणीधुर्यः त्वमग्रे विष्णोः पुरो भवसि ? इति काका प्रश्नः । सर्वपितृत्वाद्देवाग्रणीत्वाच्च त्वमेव विष्णुसमीपमुपयाहि । आपदिः हि पितरः पुत्रान् पृष्टतः कृत्वा स्वयमेव पुरो भवन्ति पुत्रस्नेहात् । अग्रण्यश्च कार्याकार्यकुशलत्वादनुचरान् इति भावः । इत्थमुक्तो ब्रह्मा आह—हे सुराः विष्णोः अयं कोपानलः मम सुदीर्घा आयताश्चतुर्णामाननानां कूर्चपंक्तीः श्मश्रुपंक्तीः ज्वलयति । इत्थममुना प्रकारेण प्रस्खलन्तो वर्णा भयाङ्गगदस्वरेणोच्चार्यमाणा वर्णा येषु तानि । प्रस्खलद्वर्णानि तानि वाक्यानि यस्यां ताम्, अति कृपणतरामतिदीनां गीर्वाणवाणीं देवगिरमाकर्ण्य शार्गिणो नृसिंहस्य उत्फुल्लौ विकसितौ गल्लौ कपोलौ यस्मिन् तत् प्रहसितं वदनं प्रहृष्टं मुखम् अस्मान् नः पुनातु पवित्रयतु । अत्र प्रहसितं वदनमिति असमस्तेन भाव्यं, वदनप्रहासस्य विधेयत्वेन समासाऽयोग्यत्वात् । एवं प्रायोऽत्र चम्प्वामविमृष्टविधेयांशो दोषः प्रस्फुटति ।

'फिर आज ने कहा—हे तात ब्रह्मा ! तुम पूजनीय देवां में अग्रगण्य हो, अतः तुम्हीं विष्णु के समक्ष जाओ । क्यों ? ब्रह्मा ने उत्तर दिया—हे देवगण ! यह क्रोधाग्नि मेरी लम्बी चौड़ी दाढ़ी-मूँछ को जला रही हैं—इस प्रकार उक्त अर्थ से भरी हुई भयवश प्रस्खलनशील तथा दैन्यपूर्ण विधाता की वाणी को सुनकर भगवान् के विहसित कपोलों वाला वदन हम सब को पवित्र करे ॥

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ९ ॥



अथ महर्षयोपि—

अहो ! साम्प्रतमस्माभिविचारितमेक जीवन्जीवन् । तच्छृणुत सर्वे महर्षय । नरहरिकोपकृशानुना प्रवृत्तेऽपि कल्पान्ते तत्कृपापात्रस्य प्रह्लादस्य नैव नाशशकाकलकाशकश स्यादतो वयमपि सद्य कूर्चोभय सम्पाद्य निरस्तसमस्तोत्तरीयवसना सद्य किशोरदशामवलम्ब्य सर्वेऽपि प्रह्लाद एव भवाम । किं परस्परप्रार्थनाव्यर्थप्रयासेन । अपरे तु प्रह्लादमनुजय तमिति प्रार्थयन् तात ? त्वदर्थमेतावाननर्थस्त्वयैव निवार्यता । मन्यथैक सधित्सितोऽपर प्रच्यवत इति न्यायात् श्रेयसाधनाय नृहरि सेवमानस्य सर्वभूतोपप्लवोत्पन्नहिंसानितप्रत्ययायो दुष्कर एव, अपय श सागरोऽपि सुतरा दुस्तर स्यात् । अथोपकुर्याण भवन्त वैधव्यभीता अस्मत्कुटुम्बिन्य परमाशीर्भि प्रत्युपकरिष्यन्ति । तेनोभयमपि यशस्कर मेव स्यात् । इति हास्यरस ।

अहो इति—अहो इति दृश्यते । साम्प्रतमनुना अस्माभिरेव जीवन्जीवन् जीवन् धारणस्यादिमूलमुपायो वा विचारित चिन्तितम् । तत्कारणमुपाय वा त सर्वे यूय महर्षय शृणुत आकर्णयत । नृहरेर्नृमिहस्य श्रीविष्णो कोप क्रोध एव कृशानुनलस्तेन प्रवृत्ते प्रारब्धेऽपि कल्पान्ते प्रलय तत्कृपापात्रस्य तदनुकम्पा भावनस्य प्रह्लादस्य न कदापि नाशस्य मरणस्य शका भय सर्व कलंक दुर्गन्ध, कारणे कार्यतादात्म्यारोप । तस्य अवसाश अवसर स्यात् । अतो हेतो वय मपि सर्व सद्य क्षिति कृचामय कृचानामभय शौरिकर्मणा वदनादपनीयान्वय स्थापनेनेति दृश्यते । सम्पाद्य कृत्वा, स्वान् कृचानपनीयेत्यर्थ, निरस्तानि अपनी तानि समस्तानि उत्तरीयवसनानि उपरिधारणवस्त्राणि यस्ते सन्तो वय सद्य तत्कालमेव कृचात्तरीयवसनापनयनसमकालमेव किशोरदशा कौमारमवलम्ब्या श्रित्य सर्वेऽपि वयमिह प्रह्लादमदशा एव भवाम । परस्पर मिथ प्रार्थनायाः प्रेरणाया व्यर्थेन प्रयासेन किं को लाभ न कोऽपि इत्यर्थ ।

अपरे तु इतरे तु केचन महर्षय प्रह्लादमनुमन्योपगम्य तमिति वक्ष्यमाण- प्रकारेण प्रार्थयन् प्रार्थयामामु । किं तत् प्राधनमिति आह तातेति । तात ? त्वदर्थं त्वत्कृते विष्णुना कृतोऽयमेतावान् इयाननर्थ । त्वयैव निवार्यतामपक्रिय ताम् । अन्यथा नो चेत् एव सधित्सित सन्धातुमिच्छन् पुन अपर प्रत्यवते भरयति इति न्यायादभगकात्, श्रेयसाधनाय अपवर्गमार्गमभिलषतोऽत एव च नृहरि श्रीविष्णु सेवमानस्य तव, सर्वभूतति सर्वथा भूतानामुपप्लवेन उपद्रव हेतुना उत्पन्नया हिंसया जनित उत्पादित प्रत्ययाय एव दुष्कर एव तत्तुम्-

शक्य एव । अपि च अपयशःसागरः अकीर्तिसमुद्रो दुस्तरः स्यात् । अथेति  
पदान्तरपरिग्रहे । एवमस्मानुपकुर्वाणमुपकुर्वन्तं भवन्तं वैधव्यात् भीतास्त्रस्ता  
वत्माकं कुटुम्बिन्यः भार्या अपि परमतिशयेन आशीर्भिराशीर्वादैः त्वां प्रत्युपकरि-  
ष्यन्ति । तेन इत्यमुभयमपि उपकारप्रत्युपकारद्वयमपि यशस्करं कीर्तिकरं सम्प-  
त्स्यते । इति हास्यरसोऽवसितः ।

अत्र प्रवन्द्य समुपवर्णित-विकृताकारवाक्चेष्टा गणेशाद्या देवा आलम्बनवि-  
मावरूपा हास्यरसस्य । तेषां शुण्डिकासंकोचनाच्छादनविकृतवाक्प्रयोगादय उद्दी-  
पनविभावाः । आकर्ण्योत्कुललालमित्युत्कुललललत्वमनुभावः । अत्र वर्णितं देवानां  
नृसिंहाद् भयं व्यभिचारिभावः । अन्येऽपि सम्भविनोऽनुभावादय ऊह्याः ।

फिर तो महर्षियो ने भी:—[ कहा ]

अहो ! सम्प्रति हमलोगों ने जीवन को सुरक्षित रखने का एक उपाय सोन रक्खा  
है । तो उसको आप सब महर्षिजन सुनें । नृसिंह की क्रोधाग्निवश प्रलयकाल उपस्थित  
हो जाने पर भी उनके कृपापात्र प्रह्लाद के नाश की तो कोई आशङ्का है नहीं । अतः  
हम सब भी तुरंत दाढ़ी एवं उत्तरीय का परित्याग कर किशोरावस्था का सहारा लेकर  
प्रह्लाद ही बन जायें । परस्पर एक दूसरे की निरर्थक प्रार्थना क्यों करें ? दूसरे लोगों  
ने तो प्रह्लाद का अनुगमन कर उनसे यही प्रार्थना की—तुम्हारे ही लिए इतना अनर्थ  
हो रहा है, तुम्हीं उसका निवारण करो, अन्यथा 'एकं सन्धितस्ततः अपरं प्रच्यवते' इस  
न्याय से [ अर्थात् एक ही बनाने की इच्छा रखने वाले का दूसरा विगड़ जाता है ]  
परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए हरि को उपासना करते हुए तुम्हें निखिल प्राणियों की  
हिंसा का दुष्कर प्रत्यवाय तो लगेगा ही, साथ ही अपयश-सागर भी तुम्हारे लिये दुस्तर  
हो जायगा । दूसरे यह कि यदि तुमने [ हम लोगों की प्रार्थना को कार्यान्वित कर ]  
उपकार किया, तो [ इसका फल यह होगा कि ] भावी वैधव्य से भीत हम सब की पत्नियों  
तुम्हें आशीर्वाद से उपकृत करेंगी ।

अथ करुणरसः—

हन्ताहं तावदज्ञस्तव चरणकृपापात्रमात्रं मुरारे

हन्ताहन्तासि दन्तावलनिबह्वलस्यापि शत्रोस्त्यमेव ।

पित्रापि त्रासितं मां प्रभवति भवतः कोऽपरस्त्रातुमुच्चै-

र्लोकालोकाग्रभानुर्न भवति यदि तत् केन जीवेत् त्रिलोकी ॥१०॥

हन्तेति—हे मुरारे ? हे नृसिंह ? अहं तावदज्ञः मन्दधीः त्वां स्वरूपतो ज्ञातु-  
मशम इत्यर्थः । किन्तु तव चरणयोः कृपाया एकमात्रं पात्रमस्मि । हे नृसिंह ?  
हन्तेति हर्षं दन्तावलानां हस्तिनां निवहः समूहः तस्य तलं यस्य तस्य अपरि-  
मितकरिवलधारिण इत्यर्थः । शत्रोः मम पितुर्हिरण्यकशिपोरपि त्वमेव आहन्ताः ।

अतिशयन नाशयिता अमि विद्यमे । पित्रा जनकेनापि ग्रामितमुत्पीडित मा भवत  
अपर, स्वदत्ते इत्यर्थ । क उच्चै भ्रातु रक्षितु प्रभवति समते । लोकैर्विप्रासित  
पिता रक्षति पित्रापि ग्रामित मा त्वदपर को रक्षदिति भाव । यदि लोकालोकस्य  
पर्वतविशेषस्य अप्रमानुनं भवति न स्यात् तत्तर्हि वन अपरेण जीवनाधारेण त्रिलोकी  
भुवनत्रय जायतु प्राण्यात् । 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमर । भवतोऽपर इत्यत्र  
'अन्यारात्रितरतं दिक्' इति पञ्चमी । अन्य-यर्थग्रहणात् ।

सम्प्रति, कण्ठरसपरस्य वर्णन प्रारम्भ करने आ रहा है —

एवं वी वान है कि मैं तो अयन्त अत्र च्यति हूँ, इ मुरारे । मैं तो कुछ हूँ वह  
के वन तुम्हारे चरणों की कृपामात्र । हे देव । अनेकानेक हाथियों के से कण्ठानी  
हिम्पयशिशु का इनन तुमने ही तो किया । [ जो पिता मव से रक्षा करता है ] उस  
पिता ने भी जब मुझे पस्त कर दिया, तो उसम बचाने में आप की अपेक्षा दूसरा ऐसा  
कौन था, जो अच्छी प्रकार मेरी रक्षा कर सज्जा था ?

छन्द—ऽऽऽ ऽऽ ऽऽ । । । ऽऽ ऽऽ । । । छम्भरा ॥ १० ॥

अपि च—

निर्माता त्व च माता त्वमसि मम पिता त्व च नेता विनेता

भ्राता प्राता सखा त्व ममसि नरहरे ? त्व निधिर्देयता वा ।

मुक्तिर्मुक्तिरिरेक्तिर्मम विशदयश प्राज्यसाम्राज्ययोग्य

भाग्य सौभाग्ययुक्त किमु वचनचयैस्त्व ममात्मा परात्मा ॥ ११ ॥

निर्मातेति—हे नृसिंह ! त्व मम निर्माता रक्षयिताऽसि । त्व माता जनन्यपि  
स्वमेवासि । मम पिता, नेता निवाहक सर्वकार्यनिवाहक इत्यर्थ । विनेता शिष्य  
कश्च स्वमेवासि । त्व मे भ्राता, ग्रामा रक्षक, सखा मित्र, त्व भुक्तिरूपमोग,  
मुक्तिरपवर्ग, विरक्तिर्विराग्य, प्राज्यस्यातिविस्तृतस्य साम्राज्यस्य योग्यमनुकूल  
विशद च तद् यश इति विशदयशो विपुला कीर्ति स्वमेवामि । सौभाग्येन युक्त  
सहित भाग्य भागधय स्वमेवामि । हे नृसिंह ! एवविध वचनचयैर्वाक्यसमूह  
भाषणसमूहवां किं, न किञ्चिन् साध्यमित्यर्थ । स्वमेव मे परात्मासि स्वमव च मे  
आत्मा अन्तरात्माऽसि । मम सर्व स्वमेवासीनि भाव । 'स्वमेव माता च पिता  
स्वमेव स्वमेव वन्धुश्च सखा स्वमेव । स्वमेव विद्या ऋषिण स्वमेव स्वमेव सर्व मम  
द्वन्द्वेष' इत्यर्थ । नेता 'ग्रामी, निवाहकं, नायकं, प्रवर्तकं, प्रापकं च' इति शब्द  
स्वतोममहानिधि । 'मुक्तिर्भोगे भोजन च' इति च । 'निधिर्ना शेषधि' इत्यमर ।

हे नृसिंह ! तुम मेरे निर्माता, माता, पिता, नेता, विनेता, भ्राता, रक्षक, सखा,  
सम्प्रति, वान देव भी हो । हे देव ! तुम मेरी मुक्ति, मुक्ति वैराग्य, विशाल साम्राज्य योग्य,

भाग्य एवं सौभाग्य सब हो, अधिक वाग्विस्तार क्या करें, तुम मेरी अन्तरात्मा तथा परात्मा हो ।

छन्दः—SSS SSS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ११ ॥

अथ देवः—

कीलाले क्लेदितोऽसि प्रथममथ पुनर्मुग्धदग्धोऽसि वह्ना-  
वुत्पातैर्घात-घातैरतिविषम-विषैर्दन्दशूकादि-दंशैः ।

मदद्वेषात्क्लेशितस्त्वं शिशुहननकृताऽनेन पापीयसा यत्

तत्सोढा मन्निमित्तं भुवि भवति तदानृण्यमेतच्छिशोः किम् ॥१२॥

कीलाल इति—अथानन्तरं पुनर्देव उवाच । हे पुत्र प्रह्लाद ! शिशुहननकृता-  
बालघातकेनानेन पापीयसा पापिना दैत्येन मदद्वेषात् मह्यं द्रुह्यता यतस्त्वं मद्भ-  
क्तोऽसीत्यतस्त्वं विविधैः प्रकारैः क्लेशितः क्लेशं प्रापितोऽसि । तथा हि—प्रथमं  
कीलाले जले क्लेदितः, अथ पुनः हे मुग्ध सुन्दर ! प्रह्लाद ! वह्नौ दग्धोऽसि ।  
उत्पातरूपद्वयैः, घाताश्च पाताश्च तैर्यातपातैः, घातैरस्यादिना हननैः, पातैः पर्व-  
तादेः पातनैः, अतिविषमविषैः अतिविषममत्युग्रं विषं गरलं येषां तैर्दन्दशूकादि-  
दंशैः दन्दशूकादीनां सर्पादीनां दंशैः दशनैः क्लेशितः पीडितोऽसि । 'दन्दशूको  
विलेशयः । उरगः पन्नगो भोगी' इत्यमरः । तदेतत् सर्वं हे प्रह्लाद ! त्वं मन्निमित्तं  
मत्कारणात् मद्भक्तिकारणात् सोढा सोढवानसि । तत् तस्माद् एतद् हिण्यकशिपु-  
वधादिरूपं मन्त्रेष्टितं शिशोस्तव आनृण्यं भुवि भवति किं, नैवं भवतीत्यर्थः ।  
'मुग्धो मूढे सुन्दरे च' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'कीलालममृतं जलम्' इत्य-  
मरः । 'अजन्मं क्लीबमुत्पातः उपगमः समं त्रयम्' इत्यमरः । सोढा इति 'ष्वुल्त-  
चौ' इति पाणिनिसूत्रेण सहेः कर्तरि वृचि रूपम् ।

फिर स्वयं नृसिंह देव ने कहाः—

हे पुत्र प्रह्लाद ! शिशु को हत्या करने वाले इस पापी ने जो तुम्हें क्लेश दिया, वह  
केवल इसलिए कि तुम मेरे भक्त हो और तुमने भी इसी लिए उन क्लेशों को सहा कि ये  
क्लेश भगवान् के लिए सहना पड़ रहा है, ऐसी स्थिति में तुम्हीं कहो कि जो कुछ  
तुम्हारा भक्ति-ऋण है, उसका अपहार किसी साधन से हो सकता है ? देखो, उस पापी  
ने तुम्हें जलविलस्र किया, हे मुग्ध ( भोले बालक ) । फिर तुम वहि में जलाये गए ।  
इसी प्रकार विभिन्न उपद्रवों, प्रहारों, शिखर-पानन, एवं अति दारुण विष के प्रयोगों से  
तुम सताए गए, इतना ही नहीं सपों के दंशों से भी तुम पीड़ित किए गए ॥

छन्दः—SSS SSS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ १२ ॥

अपि च—

प्रह्लाद तात किमदेयमिहास्ति तुभ्यम्

आत्मानमर्पितवतोऽपि समास्ति लज्जा ।

उक्त्वेत्यसौ रसनया परिलेख्यमानः

शान्तिं जगाम करुणावक्रुणालयेन ॥ १३ ॥

प्रह्लादेति—हे तात प्रह्लाद ! इह जगति तुभ्य किमदेयमस्ति । त्वं सकलस्य वस्तुजातस्य भाजनमसि जात एनेन मदनुरागेण, आत्मान स्तम्भितवतो दत्त-  
वतोऽपि मम लज्जैवास्ति । अर्थात् हे प्रह्लाद ! यद्यपि त्वद्भक्त्याऽतिमुष्टोऽहं तुभ्यं  
स्वमेवार्पितवानस्मि तथापि त्वद्भक्तेस्तेनापि अहमनृणो न जातोऽस्मीति, अतः  
एवैयं लज्जा मा त्रिपुरयति इति भावः । करुणावक्रुणालयेन दयासमुद्देन श्रीनृसिं-  
हेन दृश्युं कृत्वा दृश्यं गदित्वा वात्सल्येन रसनया त्रिह्वया परिलेख्यमानः असौ  
प्रह्लादः शान्तिं क्षमं जगाम प्राप ।

और भी—

हे तात प्रह्लाद ! रस सवार में तुम्हारे लिये क्या अदेय है ? यदि मैं तुम्हें अपने  
आप को भी ममर्पित करूँ, तो भी मुझे [ तुम्हारी भक्ति को देखकर ] लज्जा या सङ्कोच  
या ही अनुभव होता है । इस प्रकार कहकर वह करुणावक्रुणालय नृसिंहदेव वात्सल्य  
के आवेश में प्रह्लाद को अपनी जिह्वा से चाटने लगे और रस स्पर्श अथवा वात्सल्य  
के कारण प्रह्लाद भी नितान्त मुग्ध हुए ॥

छन्दः—ऽ। ऽ। ।। ।। ।। दसन्तिल्लता ॥ १३ ॥

गृहनिबद्धशिशवस्तृणोपजीविनः पशवोऽपि स्नेहार्द्रचित्ताः स्वाहारं  
परिहाय सत्परमेयं गृहमागत्य वात्सल्येन यत्सानपि निग्नयन्ति । किं च  
गृहेशं वञ्चयित्वा पाययन्ति च । तथा पक्षिणोऽपि चंचूपटसंगृहीतकवलान्  
तरुशिरोविहितनीडनिहितशिशूनां मुखेऽर्पयन्ति । तथा केऽपि दयालवः  
पुमांसः परकीयपाकानवलोक्य दोर्भ्यामालिङ्ग्य मुखमाचुम्ब्य लाल-  
यन्ति । परन्त्यस्य बालघातिनः कपटपटीयसः पापीयसो नैष्टुर्यमलौकिक-  
मयलोकितम् । आश्रयपरित्यागलक्षणदोषदूषितत्वात् पुत्रस्य पित्राऽस्य-  
मार्गोऽद्वेपि इति चेत् तदुत्पन्नमात्रापस्मारादिदोषोपहतयालाः पितृभिः  
किं न निहन्यन्ते इति ।

गृहेति—किं च, हे प्रह्लाद ! गृहे निजसदने निषङ्गा प्रतिबद्धाः रज्जवा-  
दिना इत्यर्थः । शिशवोऽर्भका वय्मा इत्यर्थः । येषां ते तृणोपजीविनः तृण-  
रुपजीवन्ति तरुशीलाः स्नेहेन प्रेम्णा आर्द्रं खिग्वं विलम्बं चित्तं चेतो येषां ते  
पशवोऽपि गवादयोऽपि स्वाहारं परित्यज्य स्मरं सदित्येव यत्नाद् गृहमागत्य  
वात्सल्येन धर्मलतया निजवय्मान् अर्भकान् अपि निग्नयन्ति निग्नान् कुर्वन्ति ।  
वात्सल्येन स्वयं वसायत्ताः सन्तो वय्मानपि वात्सल्येन स्वायत्तान् कुर्वन्तीत्यर्थः ।

‘अधीनो निम्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ’ इत्यमरः । गृहेशं गृहस्वामिनं वञ्चयित्वा प्रतार्य स्ववत्सान् पयः पाययन्ति चेत्यर्थः ।

तथा—तथैव पक्षिणोऽपि विहगा अपि चंचूपुटैः निजतुण्डैः संगृहीता आनीताश्च ते कबला ग्रासाश्च इति तान् । अत्र ‘चंचूपुटसंगृहीतान् कबलान्’ इति व्यासेन पाठ्यम् । कबलसंग्रहस्य विधेयत्वात् । अन्यथा बहुव्रीह्यर्थावगमादनिष्टप्रसक्तिः । तरुणां वृक्षाणां शिरस्सु शिखरेषु विहितेषु कृतेषु नीहेषु कुलायेषु निहितानां घृतानां (स्व) शिशूनाम् अर्भकाणां मुखे आनने अर्पयन्ति ददति, तरुशिखरेषु स्वनीहेषु घृतान् स्वार्भकान् चञ्चूपुटैरितिस्ततोऽन्नकणादि आनीय तेभ्योऽर्पयित्वा तान् पुष्यन्तीत्यर्थः । तथा केऽपि विरला इत्यर्थः, दयालवः दयार्द्रचित्ताः पुमांसः पुरुषाः परकीयान् स्वेतरान् पाकानर्मकानवलोक्य दोम्यां भुजाभ्यामालिङ्ग्याश्लिष्य मुखं तेषामाननमाचुम्य चुम्बयित्वा लालयन्ति लाडनं कुर्वन्ति । किन्तु अस्य सुरारेर्हिर्यकशिपोस्तु अलौकिकं विलक्षणं नैष्ठुर्यं क्रौर्यमवलोकितं दृष्टम् । कीदृशस्यास्य हिरण्यकशिपोरित्याकांक्षायामाह—वालघातिनः स्वार्भकहत्याकारिणः, कपटेषु पटीयसः पटुतरस्य कुशलतरस्येत्यर्थः । पापीयसोऽतिपापकारिणः । आश्रयस्य स्वपितुर्मार्गस्य परित्यागलक्षणः परिहाणलक्षणो यो दोषोऽपराधः तेन दूषितत्वात् आगस्कृत्त्रादित्यर्थः, तेन दैत्याधिपेन पित्रा जनकेनापि सता पुत्रस्य निजापत्यस्य प्रह्लादस्य अस्वमार्गः प्रह्लादस्त्रीकृतनिजेतरमार्ग एव अद्वेपि दिद्विपे । न तु प्रह्लादोऽद्वेपि इति चेदुच्येत, तदप्यसत्, यतः तदुत्पन्नेति । तस्मात् पितुः उत्पन्नमात्रश्चासौ अपस्मारादिदोषैरुपहतश्चेति तदुत्पन्नमात्रापस्मारादिदोषोपहतः स चासौ वालश्चेति । अर्थात् यदि कस्यचित् पुत्रः कश्चिज्जायमान एवार्भकः अपस्मारादि (भृगी इत्यादि) दोषैः (रोगैः) उपहन्येत परिगृह्येत तदा किम् ईदृशो वालः पितृभिर्निहन्यते, न निहन्यते इति दैत्येन्द्रेण प्रह्लादं विलम्बताऽतितरा-मागोऽकारीति भावः । ‘भुजवाहू प्रवेष्टो दोः’ इत्यमरः । ‘पोतः पाक्रीऽर्भकः डिम्भः’ इत्यमरः । अपस्मार इति अपगतः स्मारः स्मरणं यस्मात् (मिरगी) इति ख्यातो रोगभेदः । एतस्मिन् रोगे जाते रोगिणः सर्वविषयस्मृतिर्नश्यति ।

और भी—

तृण खाकर जीने वाले पशु भी, जिनके बच्चे उनसे पृथक् करके घर में बाँधे हुए हैं, सदैव स्नेह-पूरित विचारों अपने भोजन का परित्याग कर शीघ्र ही गृह को लौट आते हैं और वात्सल्य के द्वारा अपने बच्चों को वशीभूत कर लेते हैं; यही नहीं गृहस्वामी को ठगकर उन्हें अवशिष्ट दूध भी पिलाते हैं । इसी प्रकार पक्षिण भी अपने अपने चंचूपुट में ग्रासों को संगृहीत कर वृक्ष के शिरोभाग में निर्मित नीड (घोसला) में पड़े हुए बच्चों के मुख में अर्पित करते हैं । तथा कुछ दयालु लोग परकीय शिशुओं को देखकर अपनी भुजाओं से उनका आलिङ्गन कर लेते हैं और मुख चूम चूम कर उन्हें ।



नेदुरिति—प्रह्लादे हरेर्नृसिंहस्य सकाशात् निभृतं निःशब्दं प्राप्तप्रसादे प्राप्तः लब्धः प्रसादोऽनुग्रहो येन तस्मिन् आशीर्वाद्वाक्यप्रयोगं विना नृहरेः संकल्पेनैव लब्धानुग्रहे इत्यर्थः । अतएव अधिकं निरतिशयं भाग्यं भजते इति तस्मिन् (प्रह्लादे) जाते सुराणां देवानां सिद्धानां देवविशेषाणां चारणानां कुशीलवानां च गणो वृन्दं श्रीमन्नृसिंहं प्रभुं नारायणम् अरतौपीत् तुष्टाव । किं च तदवसरे दिवि दुन्दुभयः भेर्यः नेदुः अनदन्, प्रतिरवैस्तत्प्रतिध्वनिभिः नभो व्योम आनन्दसान्द्रं घनानन्दम् अभवदिति शेषः । नाकनिवासिनो दिवौकसोऽपि पुष्पैः प्रसूनैः वधूयुः अवाकिरन् नृसिंहमिति शेषः । विद्याधराः देवविशेषाः संजगुः गायन्ति स्म । 'कै गै शब्दे' इति धातोर्लिटि रूपम् । वधूपुरिति 'वृष सेचने' इति धातोर्लिटि रूपम् । धातूनामनेकार्थत्वेनार्थनिर्देशस्योपलक्षणत्वेन चात्रावकिरणमित्यर्थः ।

प्रह्लाद ने जब चुपचाप भगवान् का प्रसाद प्राप्त कर लिया और जब वे निरतिशय भाग्यशाली होगए, तब स्वर्ग में दुन्दुभियाँ वज्र उठीं और उनकी प्रतिध्वनि से सारा आकाश आनन्द लहरी से व्याप्त हो उठा—स्वर्गवासियों ने पुष्प-वृष्टि की; विद्याधरों ने गान किया । सुर, सिद्ध, एवं चारण लोगों ने प्रभु नृसिंह का स्तवन किया ॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितन् ॥ १५ ॥

तत्र प्रथमं सुरगुरुः युग्मेन नृहरेः कीर्तिं वर्णयति—

कीर्ते ! त्रैलोक्यमूर्तेर्मम चरणभवा स्वर्धुनीयं धुनीते  
सद्यः सन्तापमन्तः कलिकलिलमलं भञ्जनान्मञ्जनानाम्  
आविर्भूता प्रभूता प्रभुवर भवतश्चक्रपाणेस्तु पाणे-  
लोकः शोकं विधुंक्ते सकृदकृतकृतिर्मत्समाकर्णनेन ॥ १६ ॥  
हस्तन्यस्ता विधात्रा सततमिह शिरोभूषणं याति शान्त्यै  
शम्भोरम्भो यदीयं सलिलभवशुषः कर्णवासः शिवस्य ।  
भाले वालेन्दुरास्ते निभृतमिति हरेर्जाह्नवीपक्षपातं  
दृष्ट्वा रुष्टेव कीर्तिस्त्रिभुवनजठराद् दूरदेशं जगाम ॥ १७ ॥

कीर्तिं वर्णयतीति—कीर्तिर्भगवतोः परस्परमुक्तिप्रत्युक्तिभ्यामिति शेषः । तत्र पूर्वं कीर्तिं प्रति भगवद्वाक्यं गङ्गास्तुतिपरम् । हे कीर्ते ! त्रैलोक्यमूर्तेर्मम चरणभवेयं स्वर्धुनी । त्रैलोक्यमूर्तित्वेन गङ्गाया मच्चरणभवत्वमुपपद्यते इति भावः । मञ्जनात् स्नानात्, मञ्जनानां मद्भक्तानाम् । कलिकलिलमलम् कलिगहनपापम् अन्तःसन्तापञ्च सद्यो क्षतिरिति धुनीते निरस्यति । ततः कीर्तिराह—हे प्रभुवर ! अहं





कैसे कानों में वास करती हूँ अर्थात् शिव मुझे सदैव सादर सुनते रहते हैं और दूसरे यह कि मेरा स्वरूपभूत बालेन्दु (स्वेत होने के कारण) भी तो शिव के भाल पर विराजमान है; फिर क्यों भगवान को इतना जाहनी पर पक्षपात है? लगता है इसी पक्षपात को देख कर कीर्ति उनसे रूठ गई और त्रिभुवन के बाहर बहुत दूर चली गई ॥

अलंकारः—उत्प्रेक्षा, व्याजस्तुति । छन्दः—सम्भरा ॥ १७ ॥

सर्वे स्वर्गनिवासिनः सुरवराः स्वस्वाधिकारस्थिराः

त्वत्सेवारससादराः सरभसं पीयूषपानादराः ।

स्वर्देश्याकुचकुम्भसंभृतिपरारम्भोत्सवैर्निर्भराः

तत्र श्रीनृहरे ! चिरं तव कृपापाङ्गः परं कारणम् ॥ १८ ॥

सर्वे इति—हे श्रीनृहरे ? श्रीनृसिंह ? यत्स्वर्गनिवासिनः स्वर्गौकसः सर्वे अपि सुरवराः अमराः स्वे स्वे अधिकारे स्वस्वकर्तव्यकर्मणि स्थिराः व्यापृताः सन्ति, यच्च ते देवाः त्वत्सेवारससादराः तव सेवारसे सादराः निस्पृहाः विद्यन्ते, तथा सरभसं सहर्षं पीयूषपाने अमृतपाने आदरः येषां ते सन्ति, यच्च ते देवाः स्वर्देश्यानां स्वर्गस्थानामप्सरसां कुचाः स्तना एवं कुम्भाः घटास्तेषां सम्भृतिः पराः सन्धारणपरायणाः रम्भोत्सवैः रम्भानाम्भ्याः अप्सरसः उत्सवैर्महैः निर्भरा युक्ताः सन्ति, तत्र सर्वत्र चिरं चिरकालात् तव भगवतः कृपापाङ्गः कृपाकटाक्षः एव कारणं निदानं वर्तते इति शेषः । दिवौकसामपि निरतिशयानन्दस्य सर्वविधैश्वर्यप्रपञ्चस्य च त्वमेव निदानमितरेषां भूलोकादिवासिनां मर्त्यादीनां तु सुखादेः त्वं कारणमिति किमु वाच्यमिति भावः । 'वेगे हर्षे औत्सुक्ये रभस' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'निर्भरोऽतिमात्रे तदयुक्ते' इति च । 'अपाङ्गो नेत्रप्रान्ते तिलके च' इत्यपि । 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः ।

हे नृसिंहदेव ! ये स्वर्गवासी सभी देवगण जो अपने अपने अधिकारों में भलीभाँति संलग्न हैं, तुम्हारी सेवा में इतनी आदरबुद्धि दिखाते हैं, और जो निरन्तर पीयूषपान में तत्पर रहा करते हैं, जो बराबर स्वर्गीय वेश्याओं के कुचकुम्भमर्दन में निरत रहा करते हैं, जो रम्भा नामक अप्सरा के नर्तनोत्सव में मग्न रहा करते हैं, सो सब तुम्हारी कृपाकटाक्ष का ही फल है ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १८ ॥

चारणाः—

त्वद्दोर्दण्डप्रतापप्रचुरहुतवहात् संप्रतप्तोऽयमग्निः

मग्नेरम्भोधावगाधे प्रतिजठरमपि प्राणभाजा प्रविष्टः ।

योऽसौ न क्षापि लीनः स खलु नरहरे गाढमूर्च्छां प्रपन्नो

जीवत्यद्यापि लोके व्यजनमुपमरुद्वीज्यमानः समन्तात् ॥ १६ ॥

स्वदिनि—हे नरहरे ? हे नृसिंह ? प्रमिद्धोऽयमग्निर्वह्निः तव दोषायेव भुजा  
वेव दण्डी तयोः प्रतापोऽनुभाव एव प्रचुरः प्रभूत हुतवहः अग्नि तस्मात् सप्रतप्त  
तेन तापितः सन्नित्यर्थः । अगाधे प्रतिष्ठारहिते अम्भोधी जलधी मग्नः काल नयति  
प्राणभाजां शरीरिणा प्रतिजठर जठरे जठरे सर्वस्य जठरे उदरे प्रविष्टः सुगुप्तः सन्  
काल नयति । यश्च तस्यैवानेरशभूतः क्वचिदपि न लीनः नात्मानं प्रच्छादितवान्  
सोऽनलः गाढां मूर्च्छां चेतनाराहित्यं प्रपन्न आपन्नः सन् समन्तात् सर्वतः व्यजन  
मुपमरुता व्यजनादिवायुना व्यजनमुपमरुद्वीज्यमानः कथं चित् अद्यापि  
लोके जीवति प्राणान् धारयति । खदुभुजप्रतापाग्निना तिरस्कृतोऽयं प्राकृतोऽग्नि  
निस्तेजस्क इव तिष्ठतीत्यर्थः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दो' इत्यमरः । हुतमग्नौ प्रक्षिप्त  
हविरादि वहति देवान्प्रापयति इति हुतवहोऽग्निः ।

हे नरहरि ! तुम्हारी भुजाओं से जनित प्रचुर प्रतापरूपी अग्नि ने जगत् को प्रक्षिप्त  
अग्नि को पर्याप्त सतप्त कर दिया; यही कारण है कि सासारिक अग्नि अगाध  
सागर के तल में ( बाढवाशि के रूप में ) जाकर छिप गई, [ उससे भी बची, छोटी  
प्रत्येक प्राणी के जठर में ( जाठराग्नि के रूप में ) निरोद्धित हो गई, और जो वही न  
लीन हो सकी, उसे गाढ़ मूर्च्छा हो गई, तो उसीका फल है कि आज ससार में चारों ओर  
भूँद से फूँक फूँक कर लोग वसे होना में लाते हैं—जलाते हैं ।

छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽ ॥ १६ ॥ १६ ॥ १६ ॥ स्वधरा ॥ १९ ॥

सिद्धः—

सूत्रप्रोतिविचित्रवर्णमणिवद् यस्मिन् जगद् वर्तते

यस्मिन्नेव जले तरङ्गवद्विदं संजायते लीयते ।

यस्तत्कर्मविप्रर्जितः सलिलवत् साक्षी सहस्रांशुवत्

तं त्वां श्रीनृहरे पुराणपुरुषं कः स्तोतुमीशो भवेत् ॥ २० ॥

मूत्रेति—अथानन्तरं मित्र उवाच । हे श्रीनृहरे ! पुराणपुरुषं पुरातनं त्वां क  
स्तोतुमीशः समर्थो भवेत् न कोऽपि त्वां स्तोतुमीष्टे इत्यर्थः । कीदृशं त्वामिष्याह  
यस्मिन्निनि । यस्मिन् एषि इदं पुरो दृश्यमानं जहाजहामकं, जगत् सूत्रे प्रोता  
स्यूताः विचित्रवर्णो विप्रिधरद्वा मणयो रत्नानीय वर्तते इति शेषः । यस्मिन्नेव  
यस्मिन्नेव भवति इदं जगत् जले तरङ्गवत् विचित्रं संजायते उपसृजने पश्चात्त्य  
लीयते तत्रैव सहतिमुपति । यश्च त्वं तत्कर्मविप्रर्जितः जगतो विविधैः कर्मभि  
न समृप्यसे नलिनपत्रे सलिलमित्र उद्गम्यमानः सन् तिष्ठसि । यद्वा सलिलं दय

तरङ्गव्यापाररहितं प्रशान्तं तद्वज्रगद्व्यापारहितस्त्वं प्रशान्त इत्यर्थः । यश्च  
स्त्वं सहस्रांशुवत् आदित्य इव सर्वेषां साक्षी भूत्वा तिष्ठसि । 'यस्मिन् धौः पृथिवी  
चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः' 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देह-  
संश्रिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ब्राह्मः केनचित् क्वचित्' इत्यादि श्रुतेः  
स्मृतेश्च । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति च श्रुतेः ।

इति श्रीनृसिंहचम्पूकान्ये चतुर्थोच्छ्वासः ।

फिर सिद्ध ने प्रार्थना की:—

जिस परमात्मा में यह संसार सूत्र में मणि की भाँति पिरोया हुआ है, जिसमें,  
जल में तरंग की भाँति, संसार उदित और लीन होता रहता है, जो सांसारिक कर्मों से  
सर्वथा जल की भाँति असंपृक्त रहता है, जो सूर्य के समान निर्लिप्त भाव से जगत् का  
साक्षी है, हे नृहरि ! वैसे तुझ परम एवं पुराणपुरुष की स्तुति करने में कौन समर्थ हो  
सकता है ?

छन्दः—शार्दूलविकीर्णित ॥ २० ॥

नृसिंहचम्पू का यह चतुर्थ उच्छ्वास समाप्त ।



## अथ पञ्चम उच्छ्वासः

अथ शृङ्गारः—

यद्वदनेन्दो रुदये हरेश्चकोरायित च नेत्राभ्याम् ।

तल्लावण्यनिधान रमाभिधान महः प्रययौ ॥ १ ॥

वर्णि—वदनमिन्दुरिव वदनेन्दुः । यस्या रमाया श्रियः वदनेन्दो मुख-  
चन्द्रस्य उदये हरेः श्रीविष्णोः नेत्राभ्या नयनाभ्या चकोरायितम् चकोराभ्या-  
मिवाचरितम् । लावण्यस्य निधान निधि रमाभिधान रमाभिधेयं महः तेजः प्रययौ  
श्रीहरिमुपजगाम । प्रह्लादप्राप्त्या कारुण्योदयेन क्रोधापगमे सिद्धादिस्तुत्या प्राप्त-  
प्रमादे च भगवति अयं श्रीहृदयस्मर इति ज्ञात्वा रमा प्राप्तेति भावः । 'महस्तू-  
त्सवतेजसो' इत्यमरः । 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यद-  
ङ्गेषु तल्लावण्यमिहोप्यते' इत्युक्तो देहमौन्द्यभेदो लावण्यम् । चकोरः पक्षिविशेषः ।

अथ शृङ्गार का वर्णन आरम्भ करते हैं—

जिसके वदनरूपी चन्द्र के उदित हो जाने पर भगवान् के नेत्र चकोर की छोला धारण  
कर लेने हैं, उस लावण्यमागर रमा नामक तेजोराशि के समीप भगवान् पहुँच गए ॥

छन्दः—आर्या ॥ १ ॥

किं वर्णनीयमस्याः कविवर्यैः सौकुमार्यमार्यायाः ।

जननं क्षीरसमुद्रे मन्दिरमिन्दोवरं यस्याः ॥ २ ॥

त्रिभि—कविवर्यैरस्मादशैरन्यैर्वा कविशितोमणिभिः आर्यायाः 'कर्तव्यमा-  
चरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रवृत्ताचारे स वा आर्य इति स्मृतः'  
इत्युक्तलक्षणाया उदारचरिताया अस्या रमाया लक्ष्या । सौकुमार्यं सुकुमारता  
किं वर्णनीयं न वर्णयितुं शक्यते इत्यर्थः । यस्या रमाया जननमुत्पत्तिः क्षीरसमुद्रे  
जानमिति शेषः । यस्याश्च मन्दिरं निलयः इन्दोवरं नीलोत्पलम् । यस्याः श्रियः  
उत्पत्तिस्थानं क्षीरसमुद्रः, आलयश्च साप्रतमिन्दोवरं द्वयमपि लोकोत्तरमिति तस्याः  
किमु वाच्यं सौकुमार्यमिति भावः ।

उस आर्या के सौकुमार्य का कविवर क्या वर्णन करेंगे, त्रिमयी उत्पत्ति ही क्षीरसागर  
से है और त्रिमयी मन्दिर स्वयं कमल है ॥

छन्दः—आर्या ॥ २ ॥

अपि च—

मौन्द्येण भृशं दृशोर्नरहरेः साफल्यमातन्वती

सभ्रूमङ्गमपाङ्गवीक्षणवशादाकर्षयन्ती मनः ।

स्फूर्जत्कङ्कणकिङ्किणीगणभृणत्कारैः कृतार्थे श्रुती  
कुर्वन्ती शनकैर्जगाम जगतामाश्चर्यदायी रमा ॥ ३ ॥

सौन्दर्येणे—अङ्गप्रत्यङ्गानां यः सन्निवेशो यथोचितम् । 'सुरिलष्टः सन्धिवन्धः  
स्यात् तत् सौन्दर्यमुदाहृतम्' इत्युक्तलक्षणेन सौन्दर्येण नरहरेः नृसिंहस्य दृशोर्न-  
यनयोः भृशमतिशयेन साफल्यं सफलतामातन्वती विदधाना । भ्रुवोर्भङ्गः भ्रूमङ्गः  
भ्रूसञ्चारः तेन सहितं सभ्रूमङ्गम् । अपाङ्गाभ्यां नेत्रप्रान्ताभ्यां वीक्षणं दर्शनं तस्य  
वशात् कारणात् सभ्रूमङ्गकटाक्षदर्शनात् हेतोरित्यर्थः । हरेर्मनो मानसमाकर्ष-  
यन्ती स्ववशमानयन्ती तथा स्फूर्जन्तीनां कणन्तीनां कङ्कणकिङ्किणीनां करभूषण-  
क्षुद्रघण्टिकानां 'किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका' इत्यमरः । गणानां निकराणां क्षणत्कारैः  
क्षणक्षणध्वनिभिः श्रुती कर्णौ कृतार्थे कृतकृत्ये कुर्वन्ती जगतां लोकानामाश्चर्यदात्री  
विस्मयोत्पादिनी रमा श्रीः मन्दं जगाम श्रीहरिं प्राप । 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ'  
इत्यमरः । 'वेदे श्रवसि च श्रुतिः' इत्यमरः । 'कङ्कणं करभूषणम्' इत्यमरः ।

हरि के नेत्रों को अपने सौंदर्य से अत्यधिक सफल बनाती हुई नेत्रों के प्रान्तभाग  
से देखने के कारण कटाक्षपात [ आदि विलासमयी ] चेष्टाओं से उनके चित्त को आकृष्ट  
करती हुई तथा झनझनाते हुए कङ्कण एवं किङ्किणी के मधुर स्वर से उनके कर्णों को  
कृतार्थ करती हुई संसार को आश्चर्यान्वित करने वाली रमा भी धीरे-धीरे उनके समीप  
पहुँची ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

अपि च—

अन्योऽन्यं परिपश्यतोः सरभसं प्रेमप्रसङ्गोत्सवाद्  
ईपत्स्मेरमुखाब्जयोरतितरां यूनोरनूनश्रियोः ।  
श्रीश्रीवल्लभयोः क्षणं विरहतः प्रोद्यत्समुत्कण्ठयो-  
र्भूयासुर्जगतः शिवाय सततं संकेतभाजो दृशः ॥ ४ ॥

अन्योन्यमिति—सरभसं सहर्षमन्योन्यमितरेतरं परिपश्यतोरवलोकयतोः, प्रेम-  
प्रसङ्गोत्सवाद् प्रेम्णः स्नेहरसस्य प्रसङ्गोऽवसरः तस्य उत्सवात् ईपत् किञ्चित्  
स्मेरे विकसिते मुखाब्जे मुखकमले ययोस्तयोः, अनूनश्रियोः न ऊना हीना श्रीः  
शोभा ययोस्तयोः सम्पूर्णशोभयोरित्यर्थः, विरहतः वियोगाद्धेतोः प्रोद्यत्समु-  
त्कण्ठयोः प्रोद्यन्ती प्रोद्बुध्यन्ती समुत्कण्ठा औत्सुक्यं ययोस्तयोः अतितरामत्यर्थं,  
यूनोः युवा च युवतिश्च तयोः 'पुमान् स्त्रिया' इति युवशब्दस्य शेषः श्रीश्रीवल्ल-  
भयोः श्रीश्च श्रीवल्लभश्च तौ, तयोः लक्ष्याः नृसिंहस्य च, क्षणमीपत्कालं, सङ्केत-  
भाजः सङ्केत भजन्ते इति सङ्केतभाजः दृशः लोचनानि, सततं निरन्तरं, जगतः

संसारस्य शिषाय मङ्गलाय भूयासुः भवन्तु । 'दृष्टलाभे क्षीरसुखे च उत्कण्ठा'  
इति शब्दस्तोममहानिधिः ।

और भी—

उस प्रेम के प्रसन्न में एक दमरे को औँछों से देखने हुए, थोड़ा मुस्कराते बदन वाले, परस्पर भतिरेकी शोभा वाले, क्षणभर के पारस्परिक विरह से भी उत्कण्ठित हो जाने वाले श्री एव श्रीवल्लभ के गृहकारिक सबैतों से भरे हुए नेत्र संसार के वस्त्राणार्थ सतत बने रहें ।

छन्दः—SSS IS ISI IS S' SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मी —

यत्प्यदृष्टपूर्वं सिंहमुख ते तथापि न भयं मे ।  
चिरतरकृतपरिचरणौ चरणौ करुणानिधे यतो वेद्मि ॥ ५ ॥

यद्यपीति—हे करुणानिधे ! दयासागर श्रीनृसिंह ! यद्यपि ते तब इदं सिंहमुखं सिंहकृतिवदनम् , अदृष्टपूर्वं पूर्वं कदापि न भया लोचनगोचरीकृतं तथापि मे मम एवतो भयमातङ्को नारित । यतो यस्माद्रेतोः चिरतरात् चिरकालात् कृत परिचरण सेवन ययोस्तौ से चरणौ पादौ अहं सम्यक् वेद्मि जानामि परिचिनो-मीत्यर्थः ।

हं करुणानिधि ! यद्यपि तुम्हारा यह सिंह की आकृति वाला मुँह मैंने कभी नहीं देखा है, तथापि मुझे इससे कोइ भय नहीं है । इस निभयना का कारण यह है कि मैं तुम्हारे उन चरणों को अच्छी तरह पहचानती हूँ, जिनकी सेवा गिरानाल से की गई है ।

अलङ्कारः—' परिचरणौ चरणौ'—में समक नामर अलङ्कार है ।

छन्द —यह 'आद्या' का 'गीति' नामक एक प्रभेद है । यह मात्रिक छन्द है । इसमें ७ गण होते हैं । प्रत्येक गण ४ गणु के होते हैं । इसके दोनों चरणों में ३० मात्राएँ हैं ॥ ५ ॥

ततः सकललायण्याविष्टानमिन्दिरापि जगज्जनमनोमोहनास्त्रमिव रूपं, भूचापनिहितनिशिनविशिरात्रमिव कटाक्ष मदमुद्रितमातङ्गगतिविलासं चरणरणन्मणिनूपुरविचित्रादिघ्रनिनादं भिभ्रती कोटिसमूहचमूरिव लङ्घितमर्यादा सौन्दर्यसिन्धुलहरीय नृहरेः समश्च प्रचलितुं प्रचक्रमे ।

तत इति—ततस्तदनन्तरम् जगज्जनमनोमोहनास्त्रम् जगतां त्रयाणामपि लोकानां जनानां लोकानां मनो मोहयतीति मनोमोहनं तथास्त्रमिति जगद्ययमनुप्याणां मनसः समोद्दामः शरीकरणास्त्रमिव रूपं सौन्दर्यं विभ्रती 'यत्प्यदृष्टं' भुवः-

वेव चापौ धनुषी तयोर्निहिताः संहिता निशितास्तीक्ष्णाः विशिखा बाणा येन तं कटाक्षमिव अपाङ्गदर्शनमिव विभ्रती मदमुदितेति मदेन मुदितस्य मातङ्गस्य गतेर्विलास इव विलासो यस्य तम्, चरणेति चरणयोः पादयोः रणतां क्णतां मणिनिमित्तनूपुराणां विचित्रं विलक्षणं वादित्रनिनादं मृदंगादिवाद्यध्वनिं विभ्रती, कोटिसमूहा चमूरिति कोटिसमूहचमूः कोटिसंख्याका सेना इत्यर्थः, सा इव, लङ्घिता उल्लङ्घिता मर्यादा स्थितिर्यथा सा सौन्दर्यस्य सिन्धोः सागरस्य लहरी वीचिरिव सकलस्य सर्वस्य लावण्यस्य अधिष्ठानं निवासरता इन्दिरा सा श्रीः अपि नृहरेः नृसिंहस्य समन्तं प्रत्यक्षं प्रचलितुं गन्तुं प्रचक्रमे उद्यता बभूव । पृष्ठकबाण-विशिखाः इत्यमरः । वादित्रं मृदङ्गादिवाद्ये इति शब्दस्तोममहानिधिः ।

इसके पश्चात् निखिल सौन्दर्य के निधान, करोड़ व्यक्तियों से धटित सेवा की तरह मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई, सौन्दर्यलहरी की भाँति उस इन्दिरा ने भी भगवान् के समक्ष चल पड़ने का उपक्रम किया, जिसका रूप सारे संसार के प्राणियों के मन को वशीभूत करने में मोहनाख का कार्य करता है, जिसके कटाक्ष धनुषाकार भौहों पर पड़े हुए तीखे बाण के से जान पड़ते हैं, जिसकी गति में मत्त मत्तङ्गज का गति-विलास श्लक्ष्णता है, जिसके चरणों में निरन्तर मणिमय नूपुर का निनाद शङ्कृत होता रहता है ।

अलङ्कारः—‘भ्रूचाप’ में रूपक तथा अन्यत्र कई स्थलों पर उपमा स्पष्ट है ।

एवमरविन्दविगलदमन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहवदिन्दिरासुन्दरतरवदन-मधुराधरसुधासंबन्धनिःसृतमृदुतराक्षरनिकररचितकर्णरसायनस्य चिर-तरविरहसोत्कण्ठहृदयसम्भावितसंभोगारम्भसंभवतोपाभिलाषमिपेण क-मलाविमलमुखकमलमधुपानसादरनयनभृङ्गस्य विपुलपुलककुलकलित-कलेवरस्य भगवतः क्षणमन्तःकरणं शृङ्गाररसार्णवे मग्नमासीत् ।

एवमिति—एवमित्यमरविन्दात् कमलात् विगलन् तरन् यः अमन्दोऽत्य-धिको मकरन्दः पुष्परसः तस्य पृषतानां सन्दोहवत् समूहवत् इन्दिराया लक्ष्म्याः सुन्दरतरस्यात्यधिककमनीयस्य वदनस्याननस्य यो मधुरोऽधरोऽधरो दन्तच्छदः स एव सुधा पीयूषं तस्य संवन्धात् संकर्पात् निःसृतानां निर्गतानां मृदुतराणामतिसुकुमारणां श्लक्ष्णानां वा अक्षराणां कचटतपादिवर्णानां निकरेण प्रकरेण रचितं कर्णयोः श्रोत्रयोः रसायनं जराव्याधिहरमौषधं, यस्य तस्य चिर-तरेण चिरकालिकेन विरहेण वियोगेन सोत्कण्ठमत्युत्सुकं यद् हृदयं तस्मिन् सम्भावितः यः सम्भोगारम्भस्य संभवः तेन यः तोपस्यातिशयानन्दस्याभिलाषः तस्य मिपेण वाञ्छाव्याजेन कमलाया लक्ष्म्या विमलस्यातिगौरस्य सुखकमलस्य चदनाब्जस्य मधुपाने अधररसपाने सादरे नयने नेत्रे एव भृङ्गौ मधुकरौ यस्य तस्य, विपुलैः प्रभूतैः पुलककुलैः रोमाञ्चसमूहैः कलितं व्याप्तं कलेवरं शरीरं यस्य तस्य



भगवतः श्रीनृसिंहस्य अन्तःकरणं स्वान्तं चणमुहूर्तमात्रं शृङ्गाररसागर्वे शृङ्गार-  
रससागरे मग्नं निमग्नमासीत् । मकरन्द- पुष्परस हृद्यमरः ॥

इसके पश्चात् उक्त अवसर पर भगवान् का अन्तःकरण क्षण भर के लिए शृङ्गाररस  
के समुद्र में विन्यो न हो गया । कारण यह था कि उस समय भरविन्द से शरती हुई  
मकरन्द-कणिका की राशि सा प्रतीत होता हुआ शन्दिरा के सुन्दरतर वदन के  
मधुर-अधर में जो सुधा भरी है, उसके सम्पर्क से मुम निर्गत वचनावली उनके कानों में  
रसायन का सा काम कर रही थी, कमला का विमल मुख-कमल था और उससे छरकते  
हुए माधुर्य का पान करने के लिए इनके नेत्र भौरों की तरह सादर टूट रहे थे । यह  
दिदृक्षा स्वामात्रिक है, उस अवसर पर चिरवाणीन विरह-जनित औत्पण्ठ्य के कारण  
समाविन समोगमयी वृत्ति के हृदय में उद्भूत हो जाने के परिणाम स्वरूप जगा हुआ  
तोष एव अभिलाष तो उस काल के लिए बहाना मात्र था, उनका सारा शरीर पुलकाङ्कुर  
से अङ्कित हो उठा था ।

अलङ्कारः—‘मिथेन’ से कैतयापहृति । उपमा, रूपक एव वृत्त्यनुप्रास की भी  
उत्तम छटा है ।

आश्लेषावसरे करेण न हरेर्हरिः समुत्तार्यते ।

यन्लक्ष्म्या न तु यश्चसोऽन्तरमयव्याजेन यत्तन्मृषा ।

सूत्रालम्बितकौस्तुभप्रतिक्सोन्मुक्तस्यकीयानुज-

प्रोद्भूताधिकलज्जयेत्यनुदिन शङ्केऽस्तशङ्केक्षणम् ॥ ६ ॥

आश्लेषेति—आश्लेषावसरे समागमप्रसङ्गे लक्ष्या. द्विय. बचन उरमः हरेः  
लक्ष्मीपतेः करेण हस्तेन हारः न समुत्तार्यते हारो नापनीयते इति यत् तत् अन्तर-  
मयव्याजेन मानमोहेगहेतुना नापनीयते इति यदि कश्चिदाद्यसीत शक्यं वा  
तन्मृषा तदसत् । हरिः समागमावसरे लक्ष्या. हार नापनयति तत्र कश्चन शङ्कते  
यत् यदि हरिर्हरमपनयेत् तदा गाढालिङ्गनशङ्कया लक्ष्मीरद्विजेत अतः हरिर्हरं  
नापनयति । परन्तु कश्चिदप्राप्यदेवीप्रेम्य हारानपनयनस्येदं कारणं मिथ्या इत्याह ।  
तत्र हि हारानपनयनस्य वास्तविक किं कारणमिष्यपथ्य उत्प्रेषामाह कविः सूत्रेति  
सूत्रे अवलम्बितस्य कौस्तुभस्य मग्नविशेषस्य प्रतिक्रमेन प्रकाशेन उन्मुक्ता धारि-  
ता या स्वकीयानुजस्य स्वभावात् । कौस्तुभस्येत्यर्थः चौरसागरोत्थयाहृत्स्मी कौस्तु-  
भश्च परम्परमुभाद्यपि भ्रातरावेव प्रोद्भूता समुद्भूता अधिका लज्जा हीः तथा  
हेतुना हारो नापनीयते हरिणा इति हेतोः अनुदिनमहर्दिवमस्तशङ्केषणम् अस्त-  
शङ्के निगतशङ्के ईषणे लोषणे यस्मिन् इति क्रियाविशेषणम् । लक्ष्मीलक्ष्मीपतिश्च  
परस्परं रमेते इति शङ्के मन्ये ।

[इस शृङ्गार रस के आवेश में भगवान् ने लक्ष्मी का आलिङ्गन किया]—इस आश्लेष के अवसर पर यद्यपि लक्ष्मी को यह उचित था कि गाढ़ आश्लेष में विघ्न डालने वाले हार को हटा दें, फिर भी उन्होंने अपने हाथ से भगवान् के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार हटाया नहीं। हार के इस अनपयन में कुछ लोग यह वतलाते हैं कि उस आकस्मिक एवं इष्टात् आश्लेष के कारण लक्ष्मी के अन्तःकरण में भय एवं उद्वेग पैदा हो गया। इसी भय एवं उद्वेग के कारण लक्ष्मी उसे हटाने नहीं सकीं। कवि लोग इस कारण को उचित नहीं समझते। उन लोगों को तो निःशङ्क यह उत्प्रेक्षा है कि असल में लक्ष्मी को उस अवसर लज्जा आ गई। भगवान् के वक्षःस्थल पर पड़े हुए हार में कौस्तुभ मणि लटकता है। कौस्तुभ मणि एवं लक्ष्मी समुद्र की सन्तान हैं, अतः दोनों परस्पर भाई-बहन हैं। सारांश यह कि आश्लेष के अवसर पर साक्षात् भाई को सामने देखकर वे लज्जित हो गईं और लज्जित होने के कारण हार को हटाने नहीं सकीं।

अलङ्कारः—उत्प्रेक्षा ।

छन्दः—१९ वर्णों का शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ६ ॥

सा पङ्केरुहवासिनी नरहरेरङ्केऽधिरुढा रहः

सङ्केतेन लयं गतेऽथ विरहातङ्के विशङ्केव सा ।

कान्ताश्लेषविबृद्धसंभ्रमभरप्रोद्भूतवाष्पा स्फुरद्—

रोमाञ्चस्वरभेदवेपथुपृथुस्तम्भादिभिर्भूषिता ॥ ७ ॥

तेति—प्रियसंगमार्थं गुप्तस्थानं संकेतः रहसि निर्जने संकेतस्तेन विरहातङ्के वियोगमये लयं गते विलीने सति विशङ्का विगता शङ्का संभ्रमो यस्याः सा नरहरेः नृसिंहस्य अङ्के अधिरुढा क्रोडमधिष्ठिता सा पङ्केरुहवासिनी सरसिजासना सा लक्ष्मीः कान्तेति कान्तस्य स्वपतेः आश्लेषेण आलिङ्गनेन विबृद्ध उपचितः यः संभ्रमभरः हर्षातिशयः तेन प्रोद्भूतमुत्पन्नं, वाष्पमानन्दाश्रु यस्याः सा सती लक्ष्मीः रोमाञ्चश्च स्वरभेदश्च, वेपथुश्च, पृथुस्तम्भश्च इत्येतेषामितरेतरयोगः ते आदौ येषां तैः रोमाञ्चादिभिः सात्त्विकविकारैः भूषिताऽलङ्कृता अभवदिति शेषः । 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यमरः । सात्त्विका विकारा यथा 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' इति साहित्यदर्पणे ॥

इति शृङ्गारः ।

रमणोपयुक्त संकेत स्थान का निश्चय हो जाने से जब वियोग का भातङ्क जाता रहा, तब भगवान् के क्रोड में इन्दिरा निःशङ्क विराजित हुई और कान्त द्वारा किये गए

आदलेष के फलस्वरूप इर्ष्यातिशयजनित आनन्दाशु से परिपूर्ण लक्ष्मी रोमाञ्च, वैस्वर्य, वेपथु, स्तम्भ आदि सात्त्विक भावों से भूषित हो उठीं ।

विशेषः—सप्त श्लोक में सभी सात्त्विक भावों का वर्णन है ॥ ७ ॥

अथ शान्तः ।

देवः सानन्दम्—

परारमाहं मूलप्रकृतिरियमम्भोजनिलया

चिदानन्दाम्भोजौ चिरमथ विहारः समुचितः ।

असङ्गोदासीने निरतिशयतोपैकवपुषि

प्रियं क्षुद्रानन्दैर्मयि किमु निमेषार्धगतिभिः ॥ ८ ॥

देव इति—तदनन्तरं देवः श्रीनरहरिरवाच । ॐ परारमा परं ब्रह्मेति यावत् । इयं च अम्भोजनिलया अम्भोज सरसिज निलयोऽवासस्थानं यस्याः सा लक्ष्मी, मूलप्रकृतिरयमम्भोजनिलया । अथ अयानन्तरम् भावयोः चिदानन्दाम्भोजौ चिदानन्दसागरे चिरं चिरकाल विहारो रमण समुचितो युक्त प्रेम्णर्थः । तथापि अम्भोजे 'असङ्गोऽयं पुरुष' इति श्रुते सगरहिते कमलपत्रतोयवत् इत्यर्थः अतएव उदासीने 'अनरनखन्या अभिचाकरोति' इति श्रुतेः भोजभोग्यरहिते, निरतिशयमत्यर्थं तोष, परमानन्द एव एकवपुः शरीरं यस्य तस्मिन् आनन्द-स्वरूपे इत्यर्थं मयि नृसिंहात्मने परमहंसि निमेषार्धगतिभिः निमेषार्ध गतिर्येषां तैः क्षणमप्यनवस्थापिभिरित्यर्थः एभिः क्षुद्रानन्दैः तुष्टौ मांमारिकैः शुभ्र, किमु प्रियम् किमिष्टम् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभू-सैस्तु व्याप्त सर्वमिदं जगत्' इति श्वेताश्वतरोपनिषदि इति भावः ।

प्रतिष्ठा के अनुसार यहाँ तक शृंगार रस का वर्णन किया गया । यहाँ से आगे शान्त रस का प्रस्ताव किया जा रहा है ।

पश्चात् देवादिदेव श्री नरहरि ने कहा—मैं स्वयं परब्रह्म हूँ और यह कमलामना मूलप्रकृति है । हम दोनों का चिदानन्द सागर में ही चिरकाल तक विहार समुचित है । जब यह स्पष्ट है कि मैं असङ्ग, उदासीन, आनन्दस्वरूप हूँ, तो फिर मुझे इस क्षण भर तक मिलने वाले क्षुद्र कोटि के लौकिक आनन्द से क्या ? अर्थात् इसकी मुझे कोई कामना नहीं ।

छन्दः—शित्तरिणी । यह १७ वर्णों का वानं-वृत्त है ॥ ८ ॥

किं मित्रं किममित्रतामुपगतं कः स्वः परो वाऽपि मे  
का मे हर्षविषादितारिविजयश्लाघाविभङ्गश्च कः ।  
मानाशेषविकल्पविस्तृतसरिच्छातोर्मिमालश्चिरं  
विज्ञानामृतवारिधिरनयनयोरग्रे समुज्जृम्भते ॥ ६ ॥

किमिति—मे मम निरुपाधिकस्य परब्रह्मण इत्यर्थः किं मित्रं कः सुहृत् । किं मे अमित्रतामुपगतम् अर्थात् कः मे असुहृत्, मे मदर्थं स्वः निजः परः निजेतरः अपि कः । न मे कश्चिन्निजः नापि च मे कश्चन पर इत्यर्थः । न मे कश्चिन्मित्रं न च कश्चिच्छत्रुरित्यर्थः । 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति गीता-स्मरणात् । हर्षेति हर्षश्च विषादश्च इति हर्षविषादौ तौ अस्य अस्मिन् वा वर्तते इति स हर्षविषादौ तस्य भावः हर्षविषादिता मे मम का हर्षविषादिता 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियं' इति हर्षविषादौ स्थितप्रज्ञस्य मुनेर्न श्रुतौ । मम अरेविजयस्य श्लाघा प्रशंसापि का, न कापीत्यर्थः । कश्च विभंगः पराजयोऽपि वा मम कः । मग्नाशेषेति अशेषा विकल्पा एव विस्तृता वितताः सरितो नद्यः मग्नाश्च ता अशेषविकल्पविस्तृतसरितः, ताभिः छाता लूना अर्मिमालाः तरङ्गावलयः यस्य सः विज्ञानमेवामृतं तस्य वारिधिः सागरः, 'नयनयोर्नेत्रयोरग्रेऽध्यक्षं समुज्जृम्भते नरीनृत्यते विद्योत्तते वा । 'भङ्ग-स्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः'—इत्यमरः । छाता 'छिन्नं छातं लूनं कृत्' मित्यमरः । छातमिति 'दुर्बले छिन्ने वा' इति शब्दस्तोममहानिधिः । छो छेदने इत्यस्मात् कर्मणि कर्तरि वा क्तः । यस्मिन् सर्वमपि विकल्पजातमन्तर्हितं भवति सर्वोऽपि द्वैतप्रपञ्च उपशमयति सोऽयं विज्ञानवारिधिरध्यक्षं चकास्तीति तव मित्रामित्रचर्चाया हर्षविषादजयपराजयादीनाम् वा विचारस्यावकाश एव, नोप-तिष्ठते इति भावः ।

हमारा कौन मित्र है ? और कौन शत्रु ? कौन अपना है और कौन पराया ? मुझे हर्ष और विषाद कैसा ? शत्रु-विजय से क्या श्लाघा ? और पराजय से क्या (क्षोभ) ? यहाँ तो नेत्रों के समक्ष विज्ञानामृत का वह अछोर समुद्र लहरा रहा है, जिसमें निखिल विकल्प-जात नदियों की भाँति निमग्न हो गया है ।

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित । यह वर्णवृत्त १९ वर्णों का होता है ॥ ९ ॥

ततो गुणपटुदितानेकप्रचण्डचण्डकरकोटिसमुज्ज्वलसुन्दरशरदिन्दु-सहस्रशीतलसुधाधारासारमधुरपरानन्दैकरसं स्वयं वेद्यं स्वस्वरूपम्, अस्मिन् प्रगृह्यमाणे प्रचुरतरसुखानुभवनिमीलिताक्षः समुद्रभूतसकल-

सात्त्विकोद्रेकभूषितांगो योगदशाधिरूढां शान्तिमिव परमहंससंसाधितां  
मूर्तिमतीं मुक्तिमिव सहचरीमादाय नरहरिरन्तर्दधे ॥

तत इति—ततस्तदनन्तरं युगपदेकपदे एव उदिताः समुदिताः या अनेकाः  
प्रचण्डानां चण्डकराणां विष्मांशूनां कोटयः शतलक्षमिताः सख्याः वद्वत् समुज्ज्वलं,  
सुन्दराणां शरदिन्दूनां शरचन्द्राणां सहस्रवत् शीतलं सुधाधारासारवत् पीयूष-  
प्रवाहवत् मधुरं, परानन्दैकरसं परश्चासावानन्दः परमानन्द इत्यर्थः तदेकरसं तद्रूपं  
स्वयमात्मनैव वेद्यं ज्ञेयं अनुभवमात्रगम्य न तु वागिन्द्रियगोचरमिति भावः । 'न  
शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' इति श्रुतेः ॥ अस्मिन्  
प्रगुह्यमाणे बाह्यनोऽतीतानन्दे अनुभूयमाने प्रचुरतरस्य प्राप्यतरस्य सुखस्य  
सातस्य अनुभवेन निमीलिते इव अक्षिणी द्योघने यस्य स आनन्दनिमीलिताश्च  
इत्यर्थः । समुद्भूतस्य सकलस्य सारविक्रस्य सत्त्वगुणादुद्भूतस्य भावस्य उद्रेकः  
वृद्धिः तेन भूषिताणि अङ्गानि यस्य स विष्णुः योगदशाधिरूढां योगावस्थामापन्नां  
शान्तिमिव, परमहंसैः साधितां प्राप्तां मूर्तिमतीं देहधारिणीं मुक्तिमिव सहचरीं तां  
पद्मादाय सह नीत्वा नरहरिः स विष्णु अन्तर्दधे तिरो बभूव ।

भगवान् का अगता स्वरूप एक साथ उदित कोटि कोटि सूर्यो के समान समुज्ज्वल  
है, शरत्कालिक सैकड़ों चन्द्रों के समान शीतल है, पीयूष प्रवाह की तरह मधुर है, परमा-  
नन्द स्वरूप है तथा अनुभवमात्र से वेदनीय है । अपने इस सहस्र स्वरूप में प्रतिष्ठित  
हो जाने पर प्रचुरतर सुख की अनुभूति से अतिसंनिमीलित हो गई, निखिल सारविक्रमावर्गों  
के उद्रेक से अंग अंग सबोद हो उठा । इस मुद्रा में भगवान् योगदशा में प्राप्त शान्ति  
की भाँति, परमहंस की प्राप्त हुई मूर्तिमती मुक्ति की भाँति अपनी सहचरी को लेकर  
अंतर्हित हो गए ।

अलङ्कारः—माद्योपमा ।

मद्भाषी यदि शार्ङ्गिणो गुणगणव्याकर्णनोद्यत्सुधा-

स्याद्वाह्यादिवृद्धिभूरिभसे नायेन हीनं पदम् ।

कुत्राप्युच्यते स्वता भवति चेत् तत्साधयः ! शोध्यतां

गुञ्जा मौक्तिकहारपुञ्जमतिता प्राज्ञैर्न किं त्यज्यते ॥ १० ॥

मद्भाषी उ—यदि शार्ङ्गिणः नरहरेः गुणानां गणस्य व्याकर्णनेन श्रवणेन उच्यन्  
उच्छ्रज्यः यः सुधास्वादः अमृतरसपानं तस्य य आह्लादः परमानन्दः तस्य विवृद्धेः  
समृद्धेः भूरिभसे प्रभूतसंयोगे मद्भाषी मन वाक् यदि कुत्रापि कथवापि बाधेन

स्वामिना (शार्ङ्गिणा) हीनं रहितं पदं शब्दं सुसिद्धन्तादिरूपम् उक्तवती कथितवती चेत् यदि हे साधवः ! हे सन्तः ! भवतां स्वता आत्मीयता भवति वर्तते भवन्तो यदि मामात्मीयं मन्यन्ते इत्यर्थः । तत्तर्हि शोधयतां, तस्य शोधनं क्रियतां, न तत्र मम दोषो गण्यतां, यतोऽहं शार्ङ्गिगुणगणाकर्णनामृतरसपानमततयाऽन्यत्रमना अभूवमिति भावः । किं प्राज्ञैः विद्वद्भिस्तज्ज्ञैरित्यर्थः, मौक्तिकहारपुञ्जपतिता मौक्तिकानां मुक्ताफलानां हारपुञ्जे पतिता गुञ्जा रक्तिका न त्यज्यते ? अपि तु त्यज्यत एवेत्यर्थः । अत एव अवद्विरपि तत्पदं परित्याज्यमिति ममेदमावेदनमिति नम्रम् ॥

इस अंतिम श्लोक में कवि अपने वक्तव्य का उपसंहार करता हुआ विनय-गर्म निवेदन प्रस्तुत करता है ।

हे सज्जनवृन्द ! भगवान् नृसिंह के गुण-गण-श्रवण से ऐसे सुधामय आनन्द की विवृद्धि हुई कि मैं उसमें तल्लो न हो गया और इस तल्लीनता में सम्भव है कोई ऐसा पद निकल गया हो, जिसमें भगवान् का स्मरण न हो, तो ऐसी स्थिति में मेरी प्रार्थना यह है कि मेरे प्रति आप लोग आत्मीय जन का सा भाव रखकर उस पद को शोधित कर लें । क्या पण्डित लोग मौक्तिकहार की राशि में पड़ी हुई गुञ्जा को अलग नहीं कर देते ?

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित । अलङ्कारः—वृष्टान्त ।

आसां दस्तसमस्तदोषनिवहं गोदो विदभ्यायुते ।  
 क्रोरेनोत्तरतस्तदुत्तरतटे वार्याभिधानं पुरम् ॥ १ ॥  
 तत्रासीद् गणकाग्रणी.....श्रीनागनाथो द्विजः ।  
 भारद्वाजकुलेऽथ तस्य तनयः श्रीजानराताभिधः ॥ २ ॥  
 यद्ग्रन्थान् समधीत्य शिष्यनिवहोऽप्याचार्यचर्यामिगात् ।  
 तत्सन्तुर्गणितार्णवप्रतरणे सत्क.....सुधीः ॥  
 संगीतागमकाव्यनाटकपटुः सूर्याभिधानः कविः ।  
 चम्पूकाव्यमिदं चकार चतुरं लक्ष्मीपतिप्रीतये ॥ ३ ॥

इति श्रीमदैवज्ञपण्डितसूर्यविरचिते नृसिंहचम्पूकाव्ये पञ्चमोच्छ्वासः ।

॥ श्रीलक्ष्मीनृसिंहार्पणमस्तु ॥

इष्वाकाशस्त्रपथैस्त्रैर्मिते वैक्रमहायने ।  
 नृसिंहचम्पूसाव्येऽस्मिन् व्यधान् सूर्यो विवेचनम् ॥ १ ॥  
 सत्याचारविवर्धनाय महता प्राचा प्रपञ्चात्रिता ।  
 विद्यायोगपथे पृथुध्रमनुपा प्रया न सतीति न ॥  
 एषा मन्वृतिरत्र कश्चन गुणो यद्यस्ति सभाव्यताम् ।  
 कर्ता चेन्न चिरन्तन किमियता ह्येत च सम्भवा ॥ २ ॥  
 यादृश पुस्तक दृष्ट तादृश त्रिखित मया ।  
 यदि शुद्धमशुद्ध वा मम दोषो न दीयते ॥  
 यदक्षरपदभ्रष्ट स्वरव्यञ्जनवर्णितम् ।  
 तत्सर्वं क्षम्यता देव । नृसिंहाय नमोऽस्तु ते ॥

शके १५८० भाद्रपदवदि ३ सोम वैदर्भदेशे लिखित श्रीधराश्रमेण ।

श्रीलक्ष्मणनृसिंहार्पणमस्तु ।

नृसिंहचम्पूसाव्ये गणितश्लोकमव्या शत ३०० सम्पूर्णमस्तु ।

नृसिंह चम्पूना प्रथम उच्छ्वास समाप्त ।



समाप्तश्चाय ग्रन्थः



## श्लोकानुक्रमणिका

अगस्त्योऽभूत्	१८	गीर्वाणेन्द्रगिरे	१०
अग्रे याहि शशाङ्क	५६	घातस्तात खमग्रे	५७
अन्याद्यं न कले	४३	चण्डडम्बरभृङ्गु	३३
अन्योऽन्यं परि	७१	त्रिज्ञैतन्यं ग्रह	२४
अस्त्येव वस्तुजाते	२९	तच्छ्रुत्वा कुपितः	१२
अहो ! महदाश्चर्यम्	५३	ततः स्तम्भोद्भूता	३६
अहो मूर्खा मर्त्याः	१४	तातास्तावदमी	१७
आटोपोत्कटकोटि	३२	ते स्युः क्रमादिह	८
आत्मानं स्वशरीर	२०	खद्दोर्दण्डप्रताप	६७
आनन्दं स दधानु	१	दीर्घायुर्भव विक्रमी	६२
आनीतोऽहमिमा	५४	दुर्वलं नरशरीर	२०
आश्लेषावसरे	७४	दैत्यारातेर्नखेभ्यः	४७
आसीद् दैत्यकुले	११	धिग् दुःशरीर	४६
उप्रक्रोधकृशानु	४३	नटे सामाजिके	८
उद्यद्वैकुण्ठकण्ठी	३१	निर्माता त्वं च	६०
किं नासन् भ्रातृ	३७	नेदुर्दुन्दुभयो	६२
किं भीषणेन	३८	परात्माहं मूल	७६
किं मित्रं किममित्र	७७	पित्रा वा हननं	५२
किं वर्णनीय	७०	पृथ्व्यां पाथसि	२८
कीर्ते त्रैलोक्य	६५	पेतुर्वृत्तं धत्ते	१७
कीलाले क्लेदि	६१	प्रखरनखराघातो	४६
कीलालं स्थलतां	१३	प्रह्लाद तात	६१
कुतो रसनिरूपणं	५	आग्यद् भूभागभीमः	३०
क्रूरक्रोधाग्नि	४२	मदीयवशवर्तिनः	२३
गर्भाविर्भावभाजः	९	मद्वाणी यदि	७८



मन्मातुरिन्दिराया-	१४	भृष्वन्तु माकृति	६
मातर्जगज्जननि	५०	पद्मिपरिदूषितः	२३
यं मत्ते स्मरसि	१९	सर्वे स्वर्गोनिधासिनः	६७
यत्सकृष्णविकृष्ट	३	मान्दानन्दं यदन्तः	२५
यदि देहिनोऽपि	२८	सा पद्मेरुहवासिनी	७५
यद्यप्यष्टपूर्व	७२	सिंहः सिंह इति	५१
यद्गदनेन्दोरुदये	७०	सुतारामे ग्रामे	२७
यत्सोलकालकर	३३	सूत्रप्रोक्तविशिष्ट	६८
युद्धाटोपचपेट	४०	मौन्दर्पेण भृशं	७०
युष्मत्स्वप्नस्य	३८	हन्ताहं तावदश	५९
विष्णो ! विष्णोः	५५	हरेरुदारं गिरमाकलय	३९
विष्णोश्चिरं चरण	५	हस्तभ्यरता विधाया	६५
शोयोऽशोपविशेष	४	हाहाकारं विदित्वा	५०